पत्रकारिता और मूल्यदृष्टिः
हिन्दी की साहित्यिक लघुपत्रिकाओं के परिप्रेक्ष्य में

PATRAKARITA AUR MULYADRISHTI :
HINDI KI SAHITYIK LAGHUPATRIKAOM KE PARIPREKSHYA MEIN

Thesis submitted to
Cochin University of Science and Technology
for the award of the degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

MADHU V.

Supervising Teacher

Prof. (Dr.) A. ARAVINDAKSHAN

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN 682 022

1995

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis is a bona fide record of work carried out by **MADHU. V.** under my supervision for Ph.D. degree and no part of this thesis has hitherto been submitted for a degree in any University.

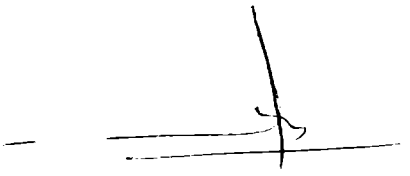

Prof.(Dr.) A. ARAVINDAKSHAN
(Supervising Teacher)
Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology

Kochi 682 022
27 December 1995

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis is based on the original work done by me under the guidance of Dr.A. Aravindakshan, Professor, Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Kochi 682 022, and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree.

MADHU. V.
Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology

Kochi 682 022
27 December 1995

TO
ALL THE AVANT-GARDE
LITTLE MAGAZINE EDITORS
WHOSE DYNAMISM INFUSED
A NEW DIMENSION TO THE CULTURAL MOVEMENT
AT THE EXPENSE OF THEIR OWN
PERSONAL LIVES

विषय - सूची

पृष्ठ संख्या

पुरोवाक् I - VI

प्रथम अध्याय I - 43

पत्रकारिता कर्म और मूल्यदृष्टि

पत्रकारिता - पत्रकारिता स्वरूप और कार्य - मूल्य - मूल्य स्वरूप विवेचन - मानवमूल्य और मूल्यदृष्टि का विकास - पत्रकारिता और मूल्यदृष्टि - भारतीय पत्रकारिता इतिहास के झरोखे से-अंग्रेज़ तथा अंग्रेज़ी की भूमिका - पत्रकारिता में भारतीय योगदान - भारतीय भाषा में पत्रकारिता - हिन्दी पत्रकारिता का उत्थान - आरंभिक पत्रकारिता की अपेक्षाएँ - भारत के राष्ट्रीय आंदोलनों में हिन्दी पत्रकारिता की रचनात्मक भूमिका - प्रथम स्वतंत्रता क्रांति और "पयामे आज़ादी" - भारतेन्दु और नवजागरणकालीन राष्ट्रीय चेतना - राष्ट्रवादी पत्रकारिता का वंगीय संदर्भ - भारत मित्र - सारसुधानिधि - नृसिंह - राष्ट्रीय आंदोलन एवं क्रांतिशील पत्रकारिता का आरंभ - तिलक और "हिन्दी केसरी" - गाँधीजी की पत्रकारिता की राष्ट्रीय भूमिका - गणेशशंकर विद्यार्थी और "प्रताप" - माखनलाल चतुर्वेदी और "कर्मवीर"- पराडकर और "आज" - राष्ट्रवादी पत्रकारिता का उत्कर्ष - पराधीन भारत की हिन्दी पत्रकारिता की मूल्यदृष्टि ।

पृष्ठ संख्या

द्वितीय अध्याय 44 - 76

पत्रकारिता और लघुपत्रिका

पत्रकारिता एक सांस्कृतिक कार्य - साहित्यिक पत्रकारिता - लघुपत्रिका नामकरण के विवाद और यथार्थ - लघुपत्रिका स्वरूप एवं संवेदना की तलाश - लघुपत्रिका प्रादुर्भाव तथा विकास - लघुपत्रिका इतिहास-लेखन का वैश्विक संदर्भ - लघुपत्रिकाओं का स्वर्णयुग - वामपंथी विचारधारा की पहल - हिन्दी की साहित्यिक लघुपत्रिकाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि - लघुपत्रिका सृजन का आधुनिक मंच - लघुपत्रिका नये योद्धाओं की प्रायोजिका - लघुपत्रिका प्रयोग के प्रति नवोन्मेष - लघुपत्रिका साहित्य का जनतंत्र - लघुपत्रिका प्रतिबद्धता का नया व्याकरण - लघुपत्रिका एक राजनीतिक दस्तावेज़ - लघुपत्रिका प्रयोजन के चरण ।

तृतीय अध्याय 77 - 126

हिन्दी की साहित्यिक लघुपत्रिकाएँ - एक सर्वेक्षण

हिन्दी पत्रकारिता उत्थान-काण्ड - नवजागरणकालीन प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाएँ - कविवचनसुधा - हरिश्चन्द्रचन्द्रिका - बालाबोधिनी - हिन्दी प्रदीप - ब्राह्मण - सरस्वती - आनंदकादंबिनी - नागरीनीरद - समालोचक - इंदु - राष्ट्रीय मुक्ति-संग्रामकालीन प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाएँ - मर्यादा - प्रभा - चाँद - मतवाला - हंस - मधुकर - जागरण -

पृष्ठ संख्या

विशाल भारत - रंगीला - आधुनिक लघुपत्रिकाएँ -
आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाएँ - प्रतीक - कहानी -
नयी कविता - कृति - आधुनिकबोध की लघुपत्रिकाएँ -
ज्ञानोदय - कल्पना - माध्यम ।

चतुर्थ अध्याय 127 - 176

समकालीन साहित्यिक लघुपत्रिकाओं के संवेदनात्मक आयाम

समकालीन लघुपत्रिका और संवेदना का बदलाव - समकालीन
लघुपत्रिका और कविता - समकालीन लघुपत्रिका और कहानी -
समकालीन लघुपत्रिका और आलोचना - समकालीन लघुपत्रिका
और संवेदना का विस्तार - समकालीन लघुपत्रिका और
फिल्मी कला - समकालीन लघुपत्रिका और साक्षात्कार -
समकालीन लघुपत्रिका और चित्रकला - समकालीन
लघुपत्रिका और पाठक वर्ग ।

पंचम अध्याय 177 - 235

समकालीन साहित्यिक लघुपत्रिकाओं के सामाजिक और
सांस्कृतिक सरोकार

लघुपत्रिका की सामाजिक और सांस्कृतिक संपृक्ति -
समकालीन लघुपत्रिकाओं का सांप्रदायिकता विरोधी
दृष्टिपथ - साम्राज्यवाद के खिलाफ जागरण का आह्वान -
नव-उपनिवेशवाद के खिलाफ लघुपत्रिकाओं की जुझारू मुद्रा -

पृष्ठ संख्या

जातिवाद के विरुद्ध संघर्षशील सांस्कृतिक बोध - महिला मुक्ति-आंदोलन की सार्थक पहल - अभिव्यक्ति की स्वाधीनता की ईमानदारी प्रहरी - उपभोक्तावादी दृष्टि की पहचान - सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार के आयाम ।

उपसंहार 236 - 246

संदर्भ-सूची 247 - 259

परिशिष्ट - एक 260 - 270

लघुपत्रिका के संबंध में संपादकों, रचनाकारों और आलोचकों से बातचीत ।

परिशिष्ट - दो 271 - 276

लघुपत्रिकाओं के संबंध में मुख्य पाठकीय प्रतिक्रियाएँ ।

परिशिष्ट - तीन 277 - 282

लघुपत्रिकाओं के कुछ प्रमुख आवरण पृष्ठ ।

पुरोवाक्

पुरोवाक्

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध - "पत्रकारिता और मूल्यदृष्टि हिन्दी की साहित्यिक लघुपत्रिकाओं के परिप्रेक्ष्य में" - हिन्दी के साहित्यिक शोध की सामान्य लीक से अलग जाने की दृष्टि से तैयार किया गया है । इस प्रकार के विषय को शोध विषय के रूप में लेने के अपने कारण हैं । लंबे अरसे से मुझे मलयालम की अनेक लघुपत्रिकाओं तथा अनेक कार्यकर्ताओं के संपर्क में आने का मौका मिलता रहा है । इस मैत्री ने मेरी जिज्ञासा को जगाया । एम.ए.की कक्षा में कभी कभी हिन्दी की कुछ लघुपत्रिकाओं - "प्रतीक", "नयी कविता" आदि - की साहित्यिक भूमिकाओं की चर्चा भी मैं ने सुनी है । पत्रकारिता के साथ भी मेरा परोक्ष संबंध रहा है । इन सबने मेरी शोध दृष्टि को संशोधित किया । साहित्यिक विषय से अलग होने का निर्णय इसी संशोधित दृष्टि का परिणाम है ।

प्राय: भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के साहित्य विभागों की शोध-सूची में साहित्य केन्द्रित विषयों की ही भरमार है

या भाषापरक अध्ययन संबंधी । अत: प्रस्तुत शोधकार्य उस दिशा में एक अपवाद है । पूरे दक्षिण भारत के जितने विश्वविद्यालय हैं उनमें कहीं भी इसप्रकार के विषय पर कोई शोध कार्य नहीं हुआ है । उत्तर के विश्वविद्यालयों में भी, जहाँ तक मैं समझता हूँ कि एक-दो शोधकार्य ही इस विषय में हुए हैं । जहाँ धर्मेन्द्र गुप्तजी के शोध प्रबन्ध का स्मरण मैं अवश्य करना चाहूँगा । हाल ही में इस विषय पर केन्द्रित एक ग्रंथ का भी संकेत मिला - "हिन्दी पत्रिकाएँ इतिहास और विश्लेषण", डॉ. रामकृष्ण राजपूत । अत: बहुत सारी सीमाओं के बावजूद यह शोधकार्य अपनी मौलिक दृष्टि का ही परिणाम है ।

कई बार यात्रा करके मैं ने अनेक लघुपत्रिकाएँ प्राप्त करने का कार्य किया है और मेरे ख्याल से बहुत-सी मुख्य लघुपत्रिकाएँ मुझे प्राप्त भी हुई हैं । हो सकता है कि कुछ और प्रमुख लघुपत्रिकाएँ छूट गई हो । पर मेरा उद्देश्य लघुपत्रिकाओं की सूची प्रस्तुत करना नहीं है बल्कि लघुपत्रिका की भूमिका को अनावृत करना है । पत्रिकाओं की संख्या से बढकर पत्रिकाओं की भूमिका इस शोधकार्य में अधिक विश्लेषित हुई है ।

यह शोध प्रबन्ध अपनी संपूर्णता में पाँच अध्यायों में विभक्त हैं । प्रथम अध्याय है "पत्रकारिता कर्म और मूल्यदृष्टि" । इस अध्याय में मुख्यत: पत्रकारिता की अवधारणा, उसकी प्रासंगिकता और उसके कर्म के आयामों का अध्ययन हुआ है । इसमें मूल्य, मूल्य के मानवीय व सामाजिक पक्ष, पत्रकारिता का मूल्यपरक संबंध तथा उसकी मूल्यदृष्टि की विभिन्न दिशाओं की ओर प्रकाश डाला गया है । भारतीय संदर्भ में

पत्रकारिता के मूल्यबोध का समग्र परिचय पहली बार पराधीन भारत के स्वाधीनता-संग्राम के दौर में मिलता है । अतएव यहाँ भारत के राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी पत्रकारिता का विश्लेषण हुआ है । साथ ही संक्षिप्त रूप में भारतीय पत्रकारिता के विकास के ऐतिहासिक मोडों का संकेत भी दिया गया है ।

द्वितीय अध्याय है "पत्रकारिता और लघुपत्रिका" । इस अध्याय में इस बात का विवेचन हुआ है कि पत्रकारिता और लघुपत्रिका किस प्रकार परस्पर संबंधित हैं । इसमें लघुपत्रिका की परिकल्पना, उसके प्रयोजन, प्रतिबद्धता, साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि जैसे विषयों का अध्ययन संगृहीत है । इस अध्याय में लघुपत्रिका के वैश्विक संदर्भ और हिन्दी की लघुपत्रिकाओं की ऐतिहासिक पृष्ठिका का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए, लघुपत्रिका के उत्थान व उत्कर्ष के आरंभिक इतिहास की झाँकियाँ दी गयी हैं ।

तृतीय अध्याय है "हिन्दी की साहित्यिक लघुपत्रिकाएँ - एक सर्वेक्षण" । इस अध्याय में सन् आठ तक की लघुपत्रिकाओं को तीन कालों में विभक्त करते हुए उनका विश्लेषण किया गया है । यह विश्लेषण लघुपत्रिकाओं के महज इतिहास-लेखन का प्रयास नहीं है बल्कि उनकी विशेष साहित्यिक और सांस्कृतिक भूमिका की अन्वेषणा है । इस अध्याय में इसका भी निरीक्षण हुआ है कि तत्कालीन साहित्यिक और सांस्कृतिक गति-विधियों में लघुपत्रिकाओं ने किस प्रकार भाग लिया है ।

चतुर्थ अध्याय है "समकालीन लघुपत्रिकाओं के संवेदनात्मक आयाम" । इसमें समकालीन लघुपत्रिकाओं के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन हुआ है । समकालीन हिन्दी साहित्य की संवेदना के विकास में लघु-पत्रिकाओं ने क्या विशेष योगदान दिया है, यह इस अध्याय का केन्द्रीय मुद्दा है । यहाँ कविता, कहानी, आलोचना, साक्षात्कार जैसी साहित्यिक विधाओं के परिप्रेक्ष्य में लघुपत्रिकाओं की भूमिका को रेखांकित करने का प्रयास हुआ है । उसी समय लघुपत्रिकाओं का साहित्येतर कलाओं से संबंध और उनका पाठकीय रिश्ता भी इस अध्याय के अध्ययन के विषय हैं । इस प्रकार यह देखने का कार्य किया गया है कि लघुपत्रिका ने पाठकीय अभिरुचि को किस हद तक परिभाषित किया है ।

पंचम अध्याय है "समकालीन लघुपत्रिकाओं के सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार ।" इस अध्याय में लघुपत्रिकाओं की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिबद्धता के विविध दृश्य दिखाये गये हैं । यहाँ सांप्रदायिकतावाद, साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद, जातिवाद, स्त्री-उत्पीडन, अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का अपहरण, उपभोक्तावाद जैसी वर्तमान युग की सामाजिक तथा सांस्कृतिक चुनौतियों का विश्लेषण हुआ है और इसमें यह भी देखा गया है कि इन चुनौतियों का सामना करने के लिए समकालीन लघुपत्रिकाओं ने वैचारिक एवं सृजनात्मक स्तर पर क्या क्या किया है । यहाँ इस बात की ओर भी ध्यान दिया गया है कि अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिबद्धता के निर्वहण में समकालीन लघुपत्रिकाओं ने अन्य संचार माध्यमों से अलग कौन-सा तरीका अपनाया है और उनका रचनात्मक पक्ष क्या है ।

उपर्युक्त पाँच अध्यायों में समकालीन लघुपत्रिकाओं की संवेदना और संपृक्ति के भिन्न-भिन्न आयामों का आकलन उपसंहार में किया गया है । सामाजिक संपृक्ति या सांस्कृतिक दृष्टि कोरी वाग्विलासिता नहीं है । साहित्य को गंभीरतापूर्वक लेने के उपरांत समसामयिक मुद्दों को भी लघुपत्रिकाओं ने अपनी दायित्व परिधि में ले लिया है । उपसंहार में इन सबका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है ।

इन शोध प्रबन्ध में ऐसी ही लघुपत्रिकाओं को अवलोकनार्थ लिया गया हैं जो किन्हीं संस्था या प्रतिष्ठान से निर्देशित या नियंत्रित नहीं है । लघुपत्रिका को परिभाषित करते समय भी इस धारणा को महत्व दिया गया है । इसके कारण कई ऐसी पत्रिकाओं को मुझे छोडना पडा है जिसमें प्रमुख है "आलोचना" । हिन्दी पाठक के नाते "आलोचना" की भूमिका से मैं पूरी तरह से अवगत हूँ । फिर भी "आलोचना" को मैं ने लघुपत्रिका के रूप में नहीं लिया है । जिन-जिन पत्रिकाओं को मैं ने इसके लिए उपयुक्त बताया है, वे, मेरी दृष्टि में, किन्हीं संस्थान या प्रतिष्ठान से निर्देशित या नियंत्रित नहीं हैं । परन्तु अगर कोई पत्रिका मेरी जानकारी के अधूरेपन से संस्थानिक या प्रतिष्ठानी हो तो क्षमाप्रार्थी हूँ ।

इस शोध कार्य कोचिन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर, डॉ. ए. अरविन्दाक्षन के निर्देशन में संपन्न हुआ है । अपने विद्वतापूर्ण सुझाव, मूल्यवान सहयोग और प्यारभरे प्रोत्साहन के द्वारा मेरे पथ-प्रदर्शन में उन्होंने जो अहम भूमिका आदा की है उसकी याद मुझमें हमेशा हरियाली की तरह बनी रहेगी । उनके सामने मैं बडी विनम्रतापूर्वक अपना आभार प्रकट करता हूँ ।

इस शोधकार्य को पूरा करने में कई स्तरों पर अनेक संपादकों एवं रचनाकारों ने आशातीत मदद दी है । विशेषकर धनंजयवर्मा, ज्ञानरंजन, शंभुनाथ, के.जी. शंकर पिल्लै, राजेश जोशी, सव्यसाची, रमेश उपाध्याय, धर्मेन्द्र गुप्त, गंगाप्रसाद विमल, पुरुषोत्तम अग्रवाल, एम. तॉमस मैथ्यू, एम. गंगाधरन्, भगवत रावत, राजेन्द्र शर्मा, रमणिका गुप्ता, राघव आलोक जैसे कुछ नामी संपादकों तथा रचनाकारों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जो मेरी शोध-यात्रा में सदा महान प्रेरणा और प्रोत्साहन रहे हैं ।

विभाग के पुस्तकालय की अध्यक्षा श्रीमती. कुञ्ञिक्कावूटी तंपुरान तथा सहायक पी. ओ. आन्टनी के प्रति मैं इसलिए आभारी हूँ कि शोधकार्य के सामग्रीचयन में उन्होंने मुझे काफी सहायता दी है ।

इस शोधकार्य को अधिकाधिक मौलिक बनाने का अथक परिश्रम मैं ने किया है । अगर कहीं कमियाँ हैं तो उनके लिए क्षमा चाहता हूँ ।

कोचिन
27 दिसम्बर 1995. मधु. वी.

प्रथम अध्याय

पत्रकारिता कर्म और मूल्यदृष्टि

पत्रकारिता

पत्रकारिता शब्द प्राय: दो अर्थों में - सामान्य और विशिष्ट - प्रयुक्त होता है । सामान्य अर्थ में, पत्रकारिता वह क्रिया व्यापार है जिसके अंतर्गत समाचारों का संकलन, विश्लेषण तथा संप्रेषण होता है और प्रथम समाचार पत्र के प्रकाशन के साथ ही उसका इतिहास आरंभ होता है । इससे भिन्न, विशिष्ट अर्थ में पत्रकारिता वह संस्था है जो सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का संचालन करती है ।

पत्रकारिता स्वरूप और कार्य

पत्रकारिता वर्तमान का इतिहास है । लेकिन सामान्य इतिहास की अपेक्षा उसका एक विशिष्ट महत्व है । प्राय: इतिहास में "क्या हुआ" की चर्चा चलती है । किन्तु पत्रकारिता में "क्या हो रहा है" और "क्या होनेवाला है" पर विचार-विमर्श होता है । वह अपने समय विशेष की गवाही है । उसमें जीवन के अनेक दृश्य खंड-मिलते हैं ।

पत्रकारिता लोक जीवन से जुड जाने का एक समर्थ साधन है । जन-शिक्षा प्रचार की एक सामान्य संस्था के रूप में समाज में उसका आदर होता है । "सामाजिक उपयोगिता की व्यापक चेतना ही सभी अच्छी पत्रकारिता की बुनियाद और आधार शिला है ।"[1] उसका कार्यक्षेत्र काफी

1: 'A prevading dense of social purpose is the basis and bedrock of all good Journalism'
K.P.Narayanan, The Feauture of Indian Journalism, Quoted from JOURNALISM IN MODERN INDIA, Ed.Ronald E Wolselly, 1964, P.No. 247.

विस्तृत है । समाचार पत्र, पत्रिका, दूरदर्शन, रेडियो जैसे तमाम जनसंचार माध्यमों के साथ उसका जीवन्त संबंध है । यथार्थ के प्रति आकर्षण उसकी केन्द्रीय मुद्रा है । पत्रकारिता की लोकप्रियता के यही आधारभूत कारण हैं ।

पत्रकार समाज का एक जागरूक प्राणी है । "हिन्दी शब्द सागर" में पत्रकारिता का अर्थ, "पत्रकार का काम या व्यवसाय" दिया है ।[1] वह समसामयिक घटनाओं के विश्लेषण पर आधारित ज्ञान का कार्य है । आधुनिक समाज में उसका प्रत्यक्ष और परोक्ष असर रहता है । "पत्रकारिता एक पेशे के रूप में जीविकार्जन के साधन होते हुए भी मिशन है ।"[2] यथार्थ का पर्दाफाश पत्रकारिता का चरम लक्ष्य है । समाचारों के संकलन और संप्रेषण में उसकी अहम भूमिका है । समाचारों तथा मतों के संकलन तथा वितरण का प्राथमिक ध्येय है, सूचनाओं के द्वारा लोगों को सार्वजनिक कल्याण तथा सांप्रतिक घटनाओं पर विधि प्रस्ताव के लिए सक्षम बनाना । मात्र घटनाओं के प्रस्तुतीकरण से ज्ञानार्जन संभव नहीं हो सकता । इसी वजह से सामान्यत: पत्रकार घटनाओं के बारीक विश्लेषण पर भी बल देते हैं ।

लंबे अर्से से पत्रकारिता विद्वानों के चिंतन का विषय रहा है । उन्होंने अपने अनुभवों व आकांक्षाओं के आधार पर पत्रकारिता का विवेचन किया है । नतीजतन पत्रकारिता की अनेक परिभाषाएँ सामने आयी हैं । ये परिभाषाएँ पत्रकारिता के प्रभाव एवं प्रयोजन के अलग अलग पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं ।

---

1. हिन्दी शब्दसागर, छठा भाग , सं. श्यामसुन्दरदास , 1969 पृ. 2798
2. डॉ. बच्चनसिंह , हिन्दी पत्रकारिता के नये प्रतिमान , 1989 , पृ. 18

पत्रकारिता संबंधी कुछ प्रमुख विचार इस प्रकार हैं -

"पत्रकारिता वह विद्या है जिसमें पत्रकारों के कार्यों, कर्तव्यों और उद्देश्यों का विवेचन किया जाता है । जो अपने युग और अपने संबंध में लिखा जाए, वह पत्रकारिता है ।"[1]

"पत्रकारिता विशिष्ट देश, काल, परिस्थितिगत, तथ्यों को अमूर्त, परोक्ष रूप में मूल्यों के आलोक में उपस्थित करती है ।"[2]

"पत्रकारिता जीवन की विविधात्मक, तथ्यात्मक और यथार्थपरक स्थितियों को जनसामान्य तक प्रेषित करने का सशक्त माध्यम है ।"[3]

"पत्रकारिता एक कला है । कला के अन्य सभी रूपों के समान यह रचनात्मक और संप्रेषणात्मक है । जहाँ पत्रकारिता एक सामाजिक क्रिया है वहाँ साहित्य, संगीत और अन्य ललित कलाएँ मुख्यत: व्यष्टिपरक होती हैं ।"[4]

---

1. डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिन्दी पत्रकारिता, 1968, पृ. 10
2. डॉ. प्रेमनाथ चतुर्वेदी, समाचार संपादन 1969, पृ. 15
3. डॉ. सुशील जोशी हिन्दी पत्रकारिता विकास और विविध आयाम , 1986 पृ. 14
4. 'Journalism is an art. Like all other forms of art, it is creative and communicative. Literature, music and other fine arts are mainly individualistic where a Journalism is a social activity.' Gian Singh Mann, JOURNALISM- CONCEPT AND CONTROVERSORY, 1988, P.13

"मानव के क्रियाव्यापारों के विभिन्न पहलुओं के समाचारों तथा दृष्टिकोणों का जो प्रकाशन समाचार पत्रों व पत्रिकाओं में होता है वह पत्रकारिता है ।"[1]

"शब्द और विचारों को समीक्षात्मक टिप्पणियों के साथ शब्द, ध्वनि तथा चित्रों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाना ही पत्रकारिता है । यह वह विद्या है जिसमें सभी प्रकार के कार्यों, कर्तव्यों और लक्ष्यों का विवेचन होता है ।"[2]

इसप्रकार तत्कालीनता, समसामयिकता, तथ्यात्मकता, ज्ञानात्मकता, संप्रेषणीयता कलात्मकता एवं सामाजिक-सांस्कृतिक बोध पत्रकारिता के अपेक्षित गुण माने जाते हैं ।

पत्रकारिता प्रत्येक देश की सांस्कृतिक धरोहर को मिटने से बचाने का और उसके उत्कर्ष का उचित उपकरण है । प्रेस उसका एक प्रमुख कार्यक्षेत्र है । वह जनचेतना का प्रतिनिधित्व करता है । प्रेस के प्रमुख तीन कर्तव्य है - वे हैं -"जनमत को अभिव्यक्ति देना, जनमत को सूचित करना और संचित सूचना के आधार पर महत्वपूर्ण मामलों अथवा बडी मान्यताओं का समाधान देना ।"[3] मोटे तौर पर एक जनतांत्रिक देश की पत्रकारिता के यही परम दायित्व हैं । अतएव सन् 1951 में अखिल भारतीय संपादक सम्मेलन में दिये

---

1. 'Journalism is the publication of news and views on various aspects of human activities in news papers and periodicals.' B.N.Ahuja, THEORY AND PRACTICE OF JOURNALISM, 1979, P.2.

2. डॉ. अर्जुन तिवारी, आधुनिक पत्रकारिता 1991 पृ. 8

3. के.पी.नारायण , संपादन कला , 1989 , पृ. 3

भाषण में, नेहरूजी ने कहा था -"प्रेस की स्वतंत्रता केवल नारा नहीं वह हमारी लोकतांत्रिक प्रणाली का एक अविभाज्य अंग है ।"[1] इस तरह प्रजातंत्र समाज में पत्रकारिता का विशिष्ट स्थान है । विचारों के प्रचार के एक उपयोगी माध्यम होने के नाते वर्तमान युग में उसकी व्यापक स्वीकृति हुई है । वह "राजा" और "प्रजा" के बीच की एक सुदृढ़ कडी है ।

आज के जीवन में पत्रकारिता संप्रेषण का एक सामाजिक विज्ञान बन गया है । उसके कई आयाम हैं । उनमें समाचार पत्र का स्थान सर्वोपरी है । "सरकार अगर त्रिभुज की एक भुजा है तो पत्र और पत्रकार उसकी दूसरी भुजा है । ये दोनों भुजाएँ जिस तीसरी भुजा के आधार पर टिकी है वह है जनता ।"[2] आधुनिक विज्ञान व प्रौद्योगिकी के विकास के साथ उसकी सीमाएँ विस्तृत हो गयी हैं । अपने उषाकाल में पत्रकारिता का वस्तुपक्ष साहित्य, समाज एवं राजनीति के संकुल दायरों में परिसीमित रहता था । किन्तु बहरहाल उसकी वैषयिक सीमाएँ बृहद हो गयी हैं । "साहित्य, दर्शन, भक्ति, राजनीति, युद्ध, अर्थ शास्त्र, समाजशास्त्र, खेल-कूद, व्यापार, खेती-बाडी से लेकर विज्ञान की विभिन्न प्रशाखाएँ, कानून प्रशासन, अपराध, इत्यादि विश्व के जितने भी विषय संभव है, पत्रकारिता के बाहर के नहीं है, हो भी नहीं सकते ।"[3] अब पत्रकारिता के सम्मुख ऐसा कोई विषय नहीं रहा है जो उसके लिए अवांछित हो ।

---

1. काशीनाथ गोविन्द जोगलेकर के "पत्र, पत्रकार और सरकार" से उद्धृत, 1991, पृ. 75
2. वही, पृ. 5.
3. डॉ. भोलानाथ तिवारी, जितेन्द्र गुप्त, पत्रकारिता में अनुवाद की समस्याएँ, 1984, पृ. 14

मूल्य

मूल्य मूलतः एक अर्थ शास्त्रीय संज्ञा है । मौजूदा युग में मूल्य का अर्थ-स्तर विस्तृत हुआ है और राजनीति, दर्शन, समाज-शास्त्र, साहित्य, मनोविज्ञान, जैविक विज्ञान, शिक्षा जैसे विभिन्न ज्ञानानुशासनिक क्षेत्रों में मूल्य शब्द का व्यवहार किया जा रहा है ।

मूल्य स्वरूप-विवेचन

मूल्य एक अगोचर आस्था है । उसकी बुनियाद विचार और धारणा है । यह तो ज़रूरी नहीं है कि विचार व धारणा एक समान हो । व्यक्ति तथा समाज के संस्कृति और आचरण विशेष के अनुरूप उनमें विविधता हो सकती है । मूल्य का अस्तित्व व्यक्ति की इच्छा पर आधारित होता है । विचारों और आचारों में वैचित्र्य तथा मानव मन की जटिलता एवं उससे उत्पन्न संघर्ष की स्थिति रहती है । यों मूल्य-संक्रमण याने मूल्य विकास में संघर्ष एक सारभूत तत्व है ।

मूल्य स्वयं एक अमूर्त आदर्श है । इस अमूर्त आदर्श की अवधारणा की व्याख्या अनेक दृष्टियों से की गयी है जिनके मूल में मानव संस्कृति काफी कार्यशील है । अन्तर्क्रिया, सौंदर्यशास्त्र और उपयोगितावाद उसके प्रेरणा स्रोत अवश्य रहे हैं ।

मूल्य विषयक कुछ मुख्य मान्यताएँ इस प्रकार हैं -

"जीवन की आभ्यंतरीकरण-प्रक्रिया में व्यक्ति अपनी जीवन दृष्टि और मूल्य दृष्टि को भी विकसित कर लेता है । एक वर्ग के भीतर अपनी विशेष जीवनालापन प्रणाली की आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन-मूल्य बना लेता है ।..... मानव संबंधों की स्थिति, स्वरूप तथा

विकासावस्था के आधार पर तथा उसके अनुसार..... हमारे जीवन मूल्य बनते है ।"[1]

"मूल्य उस गुणसमवाय का नाम है, जो किसी पदार्थ की, अपने लिए, प्रमाता के लिए अथवा अपने परिवेश के लिए सार्थकता का निर्धारण करता है । पदार्थ का गुण होने के कारण मूल्य की सत्ता वस्तुपरक है किन्तु प्रमातृ सापेक्ष होने के कारण यह व्यक्तिपरक है ।"[2]

"मानवीय संसार रूपी वास्तुकला की निर्मिति के लिए प्रयुक्त कंक्रीट, सीमेंट तथा इस्पात उसके वस्तुपरक आभास हैं मूल्य उसकी सारसत्ता और सौंदर्य है ।"[3]

"व्यक्ति की रूचियाँ, अनुभूतियाँ एवं तृप्तियाँ ही मूल्यों का बीज है ।"[4]

"{सामाजिक} मूल्य व्यक्ति के आचरण को निर्देशित और मूल्यांकित करने के आदर्श या मानदंड है ।"[5]

असल में मूल्य एक वैचारिक आधार है जो आत्मोपलब्धि से स्थापित होता है । उसकी अवधारणा उचित-अनुचित के अनुकूल होती है ।

---

1. मुक्तिबोध, नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र , 1980 {तीसरा सं} , पृ. 117
2. डॉ. नगेन्द्र , भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, 1974, पृ. 160
3. एम. गोविन्दन, एम. गोविन्दन के निबंध, 1986, पृ. 341
4. रमेशकुंतल मेघ, मूल्यों का परिवर्तन, आजकल, फरवरी 1970, पृ. 37
5. डॉ. हरदयाल, साहित्य और सामाजिक मूल्य, 1985, पृ. 23

उसमें संस्कृति के बहुतेरे तत्व निहित हैं । मनुष्य और समाज की अनुभूतियों व चिंतनाओं से वह सदा प्रभावित है । मूल्यों का आविर्भाव तथा उत्कर्ष सहसा संभव हुआ नहीं है । उसकी उत्पत्ति और गढन की, समाज विशेष के संदर्भों के साथ गहरी अनुरक्ति है । क्योंकि प्रत्येक समाज में जीवन और आपसी व्यवहार के संबंध में जो धारणाएँ होती हैं, वे स्थिर होकर मूल्य पद पर प्रतिष्ठित होती हैं । प्राचीन भारतीय शास्त्रों में धार्मिक तथा आध्यात्मिक स्तरों पर मूल्य के विवेचन और मूल्यांकन यथेष्ट हुए हैं । आधुनिक युग की प्रदूषित व्यवस्था में मूल्य-विचार की प्रासंगिकता अवश्य बढी है ।

मानवमूल्य और मूल्यदृष्टि का विकास

मूल्य वह गुण या तत्व है जिसके कारण किसी वस्तु या व्यक्ति का महत्व होता है और वही समाज की आधारशिला है । सभ्यता और संस्कृति का भव्य मन्दिर उसपर निर्मित होता है । मानव के संदर्भ में मूल्य का अर्थ है, जीवन-दृष्टि या स्थापित वैचारिक इकाई । वह व्यक्ति की रुचि और दृष्टि का उत्पाद हैं । उसमें व्यक्ति की निजी संस्कृति का भी ज़्यादा महत्व रहता है ।

मानवीय मूल्य भी एक आदर्श है । वह वस्तु आश्रित न होकर मानवीय आशा-आकांक्षाओं का आश्रित होता है । "मानवीय मूल्य विराट मानव-जीवन की अगणित शिराओं में संचरित होता रहता है । जहाँ भी यह रक्त-प्रवाह रुका, वहीं अंग पक्षघात से आहत होकर सूख जाता है । बेकाम हो जाता है ।"[1] अपनी संपूर्णता में वह व्यक्ति-विवेक के आधार पर

---

1. धर्मवीर भारती, मानव लय और साहित्य 1960, पृ. 134-135

निर्मित होता है और युग, संदर्भ एवं परंपरा से प्रभावित रहता है ।

जीवन मूल्य के अनेक स्रोत होते हैं जिनमें मनुष्य का एक प्रमुख स्थान है । जो तत्व या क्षमता मनुष्य को एकसूत्र में पिरोता है वही मानव-मूल्य है । "तत्वतः सभी मूल्य मानवमूल्य हैं चाहे वे नैतिकमूल्य हों, चाहे सौन्दर्यपरक मूल्य या कोई और, पर विशेष अर्थ में मानवमूल्यों का तात्पर्य उन मूल्यों से है जो मानव के अतिरिक्त सहज स्वरूप के सबसे निकट प्रतीत होते हैं तथा उसके संवेदनात्मक व्यक्तित्व से सबसे अधिक सीधे और गहन रूप से संबद्ध है ।"[1] वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक अनुसंधानों व आविष्कारों के उत्कर्ष के अनुसार मानव मूल्यों में कई प्रकार के बदलाव आये हैं । फलस्वरूप पुराने मूल्यों के खंडहरों में नये मानवीय मूल्यों का शिलान्यास हुआ ।

मानव मूल्यों की विशेषता यह है कि उनका सीधा संपर्क मानव की विचारभूमि एवं संवेदना से है । उनकी प्रतिष्ठा आचरण के नैरंतर्य द्वारा होती है । आलोचनात्मक दृष्टि से मूल्य सद् व असद् के ज्ञान की उपज है । तमाम मूल्यों का केन्द्र खुद मानव की विवेकशीलता और संवेदनशीलता है । "मानव की सामाजिक चेतना इतर प्राणिजगत से भिन्न सांस्कृतिक स्तर की है और उसकी रचना प्रक्रिया में मूल्यदृष्टि लक्षित की जा सकती है ।"[2] इसलिए अन्ततोगत्वा वही मूल्यों का नियामक तथा संचालक शक्ति है । मानव-मूल्य की सही अवधारणा का आधार भी यह है । मानव मूल्यों में मानव की विशेष दृष्टि की प्रधानता है । सामाजिक, नैतिक, सौंदर्यगत जैसी मूल्य की विभिन्न शाखाओं का संबंध उससे है ।

---

1. जगदीश गुप्त नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ, 1971, पृ. 12
2. प्रो. रघुवंश मानवीय संस्कृति का रचनात्मक आयाम 1989, पृ. 77

मानवमूल्य मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं - शाश्वत और समसामयिक । शाश्वत मूल्यों की धारणा एक अनिर्दिष्ट गोलाकार दृष्टि का परिणाम होती है । निरपेक्षता, वस्तुपरकता और शाश्वतता मूल्यों में नहीं होती बल्कि उस तंत्र के प्रति सार्वजनिक विश्वास में होती है जिससे मूल्य जन्मते है ।[1] इससे अलग मानवीय मूल्य कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें किसी दायरे में सीमित नहीं किया जा सकता । युग और परिवेश के अनुसार उन मूल्यों में बहुविध विकास होते हैं । मोटे तौर पर प्रेम, करूणा, सद्भाव, मुक्ति, स्वाधीनता, आस्था आदि मुख्य मानवमूल्य हैं । जिस मानव मूल्य के अन्तर्गत तमाम मानव-प्रकृति की संगति निहित है वह उच्चतम मानवमूल्य है । साहित्य और संस्कृति में उसका अप्रतिम प्रभाव पडता है । अतएव मानवमूल्य के लिए ऐतिहासिक गौरव उपलब्ध होता है ।

समाज के अनुशासन का उत्स मूल्य है जिससे समाज को स्थायित्व प्राप्त होता है । प्राय: मूल्य के दो पक्ष होते हैं - व्यक्ति-पक्ष और समूह-पक्ष । प्रत्यक्षत: व्यक्ति-पक्ष का संबंध मानव मूल्यों से है और समूह-पक्ष की आत्मीयता सामाजिक मूल्यों से । अर्थात् मूल्य के व्यक्ति-पक्ष के विकास या परिवर्तन की चरम स्थिति है सामाजिक मूल्य । "समाज की प्रचलित नैतिक व्यवस्था और मनुष्य की वर्जितोन्मुखी अन्तश्चेतना का निरंतर द्वन्द्व"[2] इस मूल्य परिवर्तन या विकास का आधार है ।

यों मानव मूल्य का स्वाभाविक विकास है सामाजिक मूल्य । वह मूलत: मानवमूल्य से भिन्न कोई मूल्य विचार नहीं है ।

---

1. एम.जी.एस.कोनी, मूल्य संदर्भ और सामाजिक परिवर्तन अनु. नंद चतुर्वेदी, बिन्दु मूल्य विश्लेषण अंक, अक्तूबर 1967, पृ.4।
2. कुमार विमल मूल्य परिवर्तन मानविकी के संदर्भ में , आलोचना, अक्तूबर-दिसंबर 1967, पृ. 65

सामाजिक स्तर पर मानव मूल्यों की चर्चा होती है । एक स्वस्थ समाज की निर्मिति में उसकी सार्थकता है । सामाजिक मूल्य समाज के समसामयिक विकास से लाभान्वित होते हैं । ये विकास आम तौर पर अर्थ, दर्शन, राजनीति, क्रांति, धर्म, साहित्य आदि पर आश्रित हैं । इस तरह सामाजिक मूल्यों के निर्णयन में समय-अवधि की निर्णायक प्रधानता होती है ।

सामाजिक मूल्यों की परिकल्पना सामाजिक अन्तः क्रियाओं के दौरान होती है । मानव जब सार्वजनिक पर्वों, संस्थाओं और सार्वजनिक केन्द्रों में एकत्रित हो जाते हैं तब उपर्युक्त अन्तः क्रियाएँ तीव्र हो जाती हैं । उस समय मनुष्य अपने अस्तित्व का विलय समूह में करके समाज की विचारधाराओं को ग्रहण कर लेता है और उसके बाद व्यक्तिगत स्तरों की उपेक्षा करते हुए सामाजिक स्तर पर पहुँच जाता है । इस प्रकार सामाजिक मूल्य एक सामाजिक अवधारणा साबित होती है । क्योंकि मानव का सामूहिक रूप है समाज । यों सामाजिक मूल्य वह क्षमता प्रामाणित होती है जो मानव की एकता और अखंडता को कायम रखती है, पृथकतावाद या अलगाववाद की एतराज से समाज को बचाती है, विकसित करती है और सुधारती है । यहीं आकर मूल्यदृष्टि का विकास पूर्ण हो जाता है ।

पत्रकारिता और मूल्यदृष्टि

मानव मात्र के विकास का बुनियादी तत्व है जिज्ञासा । अपने व्यापक सरोकार के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि पत्रकारिता मानव की जिज्ञासा का एक श्रेष्ठ उत्पाद है । समाज का प्रत्येक सदस्य चाहता है कि

वह अपने परिवेश से अधिकाधिक जुड़ते जाये और संसार के घटनाक्रमों से लाभान्वित रहे । उसकी इच्छा की पूर्ति पत्रकारिता द्वारा संभव हो जाती है । "पत्रकारिता एवं समाचार माध्यमों का काम है सूचनाओं का संप्रेषण और दुनिया में जो कुछ हो रहा है, रोपोर्टिंग तथा स्पष्टीकरण द्वारा उससे जनता को अवगत कराना ।"[1] उसके साक्षात्कार के लिए वह समाज और व्यक्ति के बीच एक संवाद की स्थिति पैदा करती है । प्रस्तुत संवाद मूल्यों के आधार पर होता है ।

आज मूल्यों के निर्माण एवं प्रचार में पत्रकारिता की भूमिका स्वीकृत हो चुकी है । मूल्य स्वयं एक सूक्ष्म तत्व है और पत्रकारिता वह साधन है जो उस सूक्ष्म तत्व को स्थूल धरातल पर प्रतिष्ठित करती है । पत्रकारिता से जुड़े हुए कई प्रकार के मूल्य हैं । जैसेकि सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, मानवीय, सांस्कृतिक आदि । किन्तु अन्ततोगत्वा पत्रकारिता की मूल्यदृष्टि का आधारतल उसकी मानवीय और सामाजिक चेतना है । विद्रोह, आक्रोश और आलोचना के द्वारा वह समाज में स्वस्थ मूल्यों को पारित करती है और खुद मूल्यों की प्रयोजक और प्रहरी बनती है ।

पत्रकारिता में सामाजिक यथार्थ के कई दस्तावेज़ उपलब्ध होते हैं । यथार्थ जीवन के सौन्दर्य एवं असौन्दर्य को वह अभिव्यक्ति करती है और मौजूदा समाज की कठिन विसंगतियों में अनेक रचनात्मक परिवर्तन लाती है । समाज में अनेक प्रकार के पाखंड और अन्धविश्वास प्रचरित है और

1.'The function of Journalism and the news media is to transmit information to enlighten the public by reporting and explaining what is happening in the World' - Donald H.Johnston,JOURNALISM AND THE MEDIA - AN INTRODUCTION TO THE MASS COMMUNICATION, 1979, P.7.

अलगाववाद और अराष्ट्रीयतावाद के कई तत्व भी पैले हुए हैं । पूँजी की राज ने प्रगतिशील चिंतनाओं के सामने असीम चुनौतियाँ उपस्थित की हैं । इस स्थिति में, "समाज की सीमा पर पडनेवाली यह चैतन्य किरण"[1] असत् के विरुद्ध सत् की, अन्याय के विरुद्ध न्याय की, अंधकार के विरुद्ध प्रकाश की, बुराई के विरुद्ध भलाई की, साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वाधीनता की, विघटन के विरुद्ध समन्वय की, दानवीयता के विरुद्ध मानवीयता की आवाज़ उठाती है और समाज की अस्त-व्यस्तता और विश्रृंखलता को समाप्त करने का दौड धूप करती है । यों प्रभावशाली सामाजिक मूल्यों के कृतिकार के रूप में पत्रकारिता का उल्लेखनीय स्थान है ।

पत्रकारिता एक पुनीत उपार्पण है । वह समय और समाज के संदर्भ में सजग रहकर नागरिकों को दायित्व बोध कराने की कला है ।[2] सत्य का संप्रेषण, जनता का उद्बोधन और जनमतों का संकल उसके विश्रुत कर्म माने जाते हैं । इसी वजह से पत्रकारिता को जनसंघर्ष का दस्तावेज़ कहा जा सकता है । वह सामाजिक मूल्यों की पहरेदार है । मूल्यों के खंभों पर समाज का गुंबद खडा होता है । खंभों पर पडनेवाले प्रत्येक प्रहार से गुम्बद प्रभावित रहता है । अतः पत्रकारिता का कार्य अन्य किसी भी सामाजिक कार्य से कम गौरवशाली नहीं है ।

पत्रकारिता की मूल्यदृष्टि को स्थापित करने में परंपरा एवं युग बोध का समान महत्व होता है । विभिन्न विचारधाराओं, इतिहास

---

1. डॉ. सुशीला जोशी, हिन्दी पत्रकारिता विकास और विविध आयाम, 1986, पृ. 4
2. डॉ. अर्जुन तिवारी, आधुनिक पत्रकारिता, 1991, पृ. 9

पुरुषों, दार्शनिकों, सांस्कृतिक कर्मियों तथा युगांतरकारी संपादकों का भी काफी योगदान है । पत्रकारिता का संबंध आम जनता से है । वह उनका शिक्षा-केन्द्र है और वह उनके साथ एक संवाद की स्थिति उत्पन्न करती है । पत्रकारिता जनता को सड़े-गले पुराने मूल्यों की अवधारणा की आवश्यकता पर ज़ोर देती है ।

पत्रकारिता की मूल्यदृष्टि विषयक भारतीय और अभारतीय अवधारणाओं में बेहद फर्क है । अमरीका, इंग्लैंड, फ्राँस जैसे विकसित देशों में पत्रकार का रूप एक प्रतिद्वन्द्वी का है । भारत के सांस्कृतिक संदर्भ में वह एक कर्मठ सामाजिक और सांस्कृतिककर्मी है । उसकी लेखनी सदा जन कल्याण की ओर फिरी हुई है । सत्य-प्रतिपादन या सत्यप्रियता तथा अन्याय का विरोध, राष्ट्रप्रेम, धर्मनिरपेक्षता और मानव कल्याण ऐसे चार प्रमुख मूल्य हैं जिनके निर्वहण में वह प्रतिबद्ध है ।

हमारी मूल्यवान परंपरा और सांस्कृतिक गौरव के पालन की दिशा में पत्रकारिता को महत्वपूर्ण पद प्राप्त है । "आधुनिक काल में पत्रकारिता का क्षेत्र व्यापक हो गया है तथा इसने राजनैतिक व आर्थिक समाचारों के कोरे रिपोर्टिंग की इयत्ता का अतिक्रमण भी किया है । जनसंचार के एक प्रभावी माध्यम के रूप में यह जनता के बीच के सामाजिक संबंधों की क्रिया का निष्पादन करती है ।"[2] स्वतंत्रता-पूर्व भारत की पत्रकारिता का सबसे बड़ा मूल्य आज़ादी था ।

---

1. डॉ. मृदुला वर्मा, हिन्दी सर्वोदय पत्रकारिता 1993, पृ. 24

2. 'In modern times horizon of Journalism has widened and it has transcended the mlimits of mere reporting of political and economic news. As it is a vehicle of mass communication it is performing the function of social inter course between the people.....'
B.N.Ahuja, THEORY AND PRACTICE OF JOURNALISM, 1979, P.2.

किन्तु स्वातंत्र्योत्तर भारत में पत्रकारिता के दायित्व में वृद्धि आयी है । उनकी मूल्यदृष्टि में अनेक परिवर्तन आने लगे हैं । इसका मूल और मुख्य कारण भारत का बदला हुआ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश है । फिलहाल भारत के जनतंत्र के सामने, साम्राज्यवाद, फासीवाद, आतंकवाद, अलगाववाद, उपभोक्तावाद, सांप्रदायिकता, नव-उपनिवेशवाद, दलित-नारी शोषण, दूषित राजनीति जैसी बहुसंख्यक चुनौतियाँ उपस्थित हुई हैं जिनसे जनता निरंतर उत्पीडित हो रही है । इस हालत में पत्रकारिता का मूल्यबोध विपुल हुआ है । विनष्ट एवं विघटित होते हुए सामाजिक, मानवीय नैतिक एवं जनतांत्रिक मूल्यों के प्रति पाठक वर्ग को जागरूक करना और समाज में एक सर्वथा परिमार्जित, सांस्कृतिक मूल्य की अनिवार्यता को रेखांकित करना, सांप्रतिक पत्रकारिता के प्रमुख कार्य हैं याने वही इसकी मूल्यदृष्टि हैं ।

भारतीय पत्रकारिता का इतिहास हमें यही बता रहा है कि पत्रकारिता का अंतरंग मूल्यबोध से ही अभिभूत है । मूल्य स्थापना के हेतु प्रत्येक युग की पत्रकारिता संघर्ष को झेलती तथा आत्मसात् करती रही है । संघर्ष का यह परिदृश्य वस्तुतः मूल्यदृष्टि से संयुक्त है ।

भारतीय पत्रकारिता इतिहास के झरोखे से

अंग्रेज़ तथा अंग्रेज़ी की भूमिका

भारत वर्ष में पत्रकारिता का शुभारंभ अठारहवीं शती के अंतिम दशकों में ब्रिटिश शासन काल में हुआ था जिसे ब्रिटिश शासन की एक उपलब्धि भी कहा गया है ।[1] इतिहासवेत्ताओं के अनुसार भारत का पहला

---

1. Rangaswami Parthasarathy, JOURNALISM IN INDIA, 1989, P. 23

समाचार पत्र "बंगल गज़ट आफ कलकत्ता जनरल एडवेटाइज़र" है ।[1] भारत के समाचार पत्रों का इतिहास उससे आरंभ होता है ।[2] "बंगाल गज़ट" केवल चार पृष्ठों का एक छोटा-सा पत्र था जिसमें प्रांतीय समाचारों के साथ तत्कालीन अंग्रेज़ी शासकों की आलोचना भी होती थी । 29 जनवरी 1780 को "बंगाल गज़ट" का प्रथम अंक प्रकाश में आया था । उसके संपादक एवं प्रकाशक जेम्स अगस्टस हिकी नामक एक अंग्रेज़ था । इसलिए वह "हिकी की गज़ट" नाम से भी जाना जाता था । "बंगाल गज़ट" की विशेषता की ओर संकेत करते हुए पहले अंक में ही हिकी ने यह घोषणा की थी कि -"बंगाल गज़ट" एक ऐसी राजनीतिक व व्यावसायिक पत्रिका है जो सभी पार्टियों के लिए खुली हुई है, किन्तु किसी से भी प्रभावित नहीं है ।"[3] यद्यपि "हिकी की गज़ट" उच्चस्तरीय तो नहीं थी, फिर भी प्रस्तुत घोषणा पत्रकारिता की स्वतंत्रता की दिशा का प्रथम कदम था । हिकी की दृष्टि सदा आलोचनात्मक थी । उन्होंने अंग्रेज़ी शासकों की नीतियों की छान-बीन करने का साहस दिखाया था । तत्कालीन गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग की कटु आलोचना का इनाम हिकी को एक वर्ष की कैद और दो हज़ार रुपये की जुर्माना के रूप में मिला ।[4] इंडिया गज़ेट (1780) कलकत्ता गज़ेट (1784), बैंगाल जर्नल (1785), इंडियन वर्ल्ड (1791), आदि बंगाल गज़ेट की प्रेरणा से प्रकाशित कुछ अन्य पत्र थे ।

पत्रकारिता में भारतीय योगदान

यद्यपि भारत का प्रथम पत्र प्रकाशित करने का श्रेय वस्तुत:

---

1. वेदप्रताप वैदिक (सं) , हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम (वि. सुन्दरेशन के लेख "पत्रकारिता का उद्भव और विकास" से उद्धृत) , 1976 , पृ. 29
2. Nadig Krishna Murthy, INDIAN JOURNALISM, 1970, P.348
3. S.Natrajan, A HISTORY OF THE PRESS IN INDIA, 1962, P.14
4. Ibid, P.16

एक अभारतीय सज्जन को प्राप्त है फिर भी भारतीय प्रेस की वास्तविक अवधारणा प्रतिभावान् भारतीयों की देन रही है जिसमें भारतीय पत्रकारिता के वांछित स्वरूप की झाँकी उपलब्धि होती थी । इस दृष्टि से सन् 1816 में प्रकाशित "वीकली बंगाली" या "बंगाल गज़ट" भारत का एक आरंभिक समाचार पत्र था । उसके संपादक थे गंगाधर भट्टाचारजी जो राजा राममोहन राय के विचारों से प्रभावित थे । वे राममोहन राय के "आत्मीय समाज" के सदस्य भी थे । सन् 1820 तक "बंगाल गज़ट" यों ही निकलता रहा । उसके बाद पत्रकारिता की व्यापक प्रभविष्णुता से अभिप्रेरित होकर स्वयं राजा राममोहन राय पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए । बंगला में प्रकाशित "संवाद कौमुदी", अंग्रेज़ी का "ब्राह्मनिकल मैगज़िन" और फारसी का "मीरट उल अखबर" राय के मुख्य पत्र थे । राजा राममोहन राय जैसे तेजस्वी व्यक्तित्व तत्कालीन पत्रकारिता के क्षेत्र में संभवत: कोई नहीं थे । क्योंकि एक साथ ही उन्होंने जहाँ सामाजिक एवं राजनीतिक सुधारों के लिए अथक संघर्ष किया, वहीं भारतीय पत्रकारिता में एक नये अध्याय की रचना भी की ।[1] उस समय के प्राय: सभी समाचार पत्र उनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन और परामर्श से लाभान्वित थे ।

भारतीय भाषा में पत्रकारिता

अंग्रेज़ों व भारतीयों के संपादन में सन् 1780 और 1817 के अंतराल में भारत के विभिन्न इलाकों में कई समाचार पत्र प्रकाशित हुए थे । किन्तु सामान्यत: उनकी भाषा अंग्रेज़ी ही रही थी जिनका प्रचार समाज के अल्पसंख्यक शिक्षित-अभिजात वर्ग के बीच परिसीमित होते थे । अशिक्षित आम जनता से उन पत्रों का कोई संबंध नहीं था । इसी परिवेश में भारतीय भाषा की पत्रकारिता की परिकल्पना हुई थी ।

---

1. डॉ. ब्रह्मानंद भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता , 1986 , पृ. 23-24

प्राप्त सूचनाओं के अनुसार भारतीय भाषा का पहला पत्र बंगला में प्रकाशित "दिग्दर्शन" है ।[1] सन् 1818 में सिरामपुर के पादिरियों ने "दिग्दर्शन" का प्रकाशन शुरू किया था । उसके संपादक थे क्लार्क मार्शमैन । यह एक शिक्षा प्रधान तथा मनोरंजक पत्र था । ईसाई धर्म का प्रचार भी उसका एक लक्ष्य था । सरकार की ओर से "दिग्दर्शन" के प्रत्येक अंक की एक सौ प्रतियाँ ली जाती थीं । उसका ऐतिहासिक महत्व यह है कि भारतीय भाषा की पत्रकारिता की नींव "दिग्दर्शन" ने डाली थी । आहिस्ता-आहिस्ता भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी समाचार पत्रों के प्रकाशन का कार्य आरंभ हुआ जिसमें अपेक्षाकृत हिन्दी ने ज़्यादा तीव्रता दिखाई है ।

हिन्दी पत्रकारिता का उत्थान

हिन्दी पत्रकारिता, भारतीय पत्रकारिता का एक अभिन्न अंग है । हिन्दी पत्रकारिता का आरंभ उन्नीसवीं शती में हुआ था । हिन्दी के प्रथम समाचार पत्र को लेकर इतिहास लेखकों के बीच काफी मतभेद हैं । उन्होंने वैयक्तिक खोजों व शोधों के आधार पर अपनी अपनी मान्यताओं को तथ्यात्मक साबित करने के प्रयास किये हैं । राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद, बालमुकुन्द जैसे विद्वानों ने सन् 1845 में प्रकाशित "बनारस अखबार" को हिन्दी भाषा का प्रथम पत्र माना था । महादेव साहा, शिवनारायण खन्ना आदि ने हिन्दी का पहला पत्र होने का श्रीस्थान "दिग्दर्शन" को दिया था जो पहले बंगला-हिन्दी में तदुपरांत हिन्दी में प्रकाशित होता था । लेकिन जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी जैसे प्रख्यात पत्रकारों ने इस मन्तव्य का उचित खंडन किया है ।[2]

---

1. अंबिकाप्रसाद वाजपेयी , समाचारपत्रों का इतिहास 1976 , पृ .33
2. जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी , उदन्तमार्तंड की कहानी , साप्ताहिक हिन्दुस्तान 30 मई 1983 पृ. 14

हिन्दी के पहले पत्र के संदर्भ में "दरबार रोजनामचा" की भी चर्चा हुई है । किन्तु उसके लिए वांछित प्रमाण अभी तक अप्राप्य रहा है ।

अधिकांश विद्वान और आलोचक 30 मई 1826 को युगल किशोर शुक्ल के संपादन में कलकत्ता से प्रकाशित "उदन्तमार्तंड" को ही हिन्दी का पहला पत्र मानते हैं ।[1] नये अनुसंधानों के आधार पर इसका भी विरोध हो चुका है । दूसरी राय यह है कि हिन्दी का पहला पत्र "गोस्पल मैगज़िन" है जिसका प्रकाशन "उदन्तमार्तंड" के छः वर्ष पूर्व सन् 1820 में , कलकत्ता के धर्मतल्ला में स्थित स्कूल प्रेस से हुआ था ।[2] यद्यपि इस मान्यता की स्वीकृति अभी पूरी नहीं हुई है फिर भी जब तक इस दिशा में नवीनतम निर्णय प्रकाश में न आयेगा तब तक "गोस्पल मैगज़िन" हिन्दी का प्रथम पत्र बन रहेगा ।

आरंभिक पत्रकारिता की अपेक्षाएँ

भारतवर्ष के आरंभिक समाचार पत्रों का उदय विशेष सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेश में हुआ है । अतएव उनमें तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों के प्रति रुचि थी । उनके प्रायः चार उद्देश्य रहे हैं । वे क्रमशः सत्ता की आलोचना करना, राष्ट्रीय चेतना को जागृत करना, भारतीय प्रेस की तलाश और ईसाई धर्म के प्रचार में सहयोग देना हैं ।

1.Rangaswami Parthasarathy, JOURNALISM IN INDIA, 1970, P. 219

2. जे.एस.आनंद , आजकल , दिसंबर 1984 , पृ.49

ब्रिटिश शासक वर्ग की निरंकुश नीतियों के कारण भारत के शासित वर्ग सदा अवसन्न थे । सत्ता की फासिज़्ट प्रवृत्तियों से भारत के आरंभिक समाचार पत्र भी अत्यंत रूष्ट थे । इसलिए उनकी ओर से शासक वर्ग का कई बार विरोध - कभी नर्म, कभी उग्र - हुआ है । यह विरोध मात्र भारतीयों द्वारा ही नहीं बल्कि अंग्रेज़ी संपादकों द्वारा भी अभिव्यक्त हुआ है।

भारत के शुरू के समाचार पत्र, भारत की राष्ट्रीय पत्रकारिता के विकास के प्राथमिक चरण थे । सुधार-चेता भारतीयों के संपादकत्व में प्रकाशित समाचार पत्रों ने विरोध के कार्य को राष्ट्रीय चेतना एवं जातीयता को प्रदीप्त करने का रचनात्मक साधन माना है । राजा राम मोहन राय, गंगाधर भट्टाचारजी आदि भारत की राष्ट्रीय पत्रकारिता के उन्नायक थे ।

भारतीय प्रेस के स्वरूप के निर्धारण में आदिकालीन समाचार पत्रों का पर्याप्त सहयोग रहा है । भारत के और भारतीयों के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्कर्ष उनकी अपेक्षाएँ थीं । उनमें जनता को शिक्षित करने की आकांक्षा भी मौजूद थी । उन्होंने भारत के प्रत्येक प्रांत में समाचार पत्रों का प्रकाशन आरंभ करने की ज़रूरी प्रेरणा दी है ।

धर्म के प्रचार-कार्य के उपयुक्त उपकरण के रूप में भी भारत के उषाकालीन पत्रों का प्रयोग हुआ है । क्योंकि भारत के कुछ प्रारंभिक पत्रों के प्रकाशक और संपादक स्वयं अंग्रेज़ी धार्मिक नेता एवं पादिरी थे । लेकिन धर्म के प्रचार के साथ ही उन्होंने जन-कल्याण और अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार को प्रोत्साहित किया है ।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दी पत्रकारिता की रचनात्मक भूमिका

भारतीय पत्रकारिता के इतिहास का, भारत के प्रत्येक कालखंड के राष्ट्रीय एवं राजनीतिक गतिविधियों के साथ सदा एक आत्मीयतापूर्ण संबंध रहा था । भारतीय पत्रकारिता के उत्कर्ष में ही नहीं, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विकास में भी भारत के भाषायी पत्रों ने ऐतिहासिक तथा स्मरणीय भूमिका अदा की है ।[1] वह अनेक दृष्टियों से भारत के राष्ट्रीय आन्दोलनों से लाभान्वित हुई है । "पत्रकारिता के अतीत पीढी के कृति पुरुषों को यह बोध था कि पत्रकार की भूमिका लोकनायक की भूमिका होती है । इसी विवेक और गुरुतर भूमिका से समृद्ध है पत्रकारिता की विरासत ।"[2] इसका मुख्य कारण यह कहा जा सकता है कि भारत के स्वतंत्रता संग्राम के प्राय: सभी अग्रणी नेता स्वयं संपादक या पत्रकार थे । बालगंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, विपिनचन्द्रपाल, अरविन्द घोष, लाला लजपतराय, मदनमोहन मालवीय, आनिबसेंट, महात्मा गाँधी, जवहरलाल नेहरू जैसे लोकप्रिय नेताओं के नाम इस अवसर पर लिये जा सकते हैं । अपने विचारों व दृष्टिकोणों को आम जनता तक पहुँचाने के समर्थ साधन के रूप में उन्होंने पत्रकारिता को स्वीकारा था ।

प्रथम स्वाधीनता-क्रांति और "पयामे आज़ादी"

सन् 1857 की प्रथम स्वाधीनता-क्रांति तक भारत वर्ष में करीब दो सौ पत्र-पत्रिकाएँ विविध भाषाओं में प्रकाशित होती थीं । तत्कालीन राजनीतिक आंदोलनों को गतिशीलता प्रदान करने में और

---

1. Rangaswami Parthasarathy, JOURNALISM IN INDIA, 1970, P.217
2. डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र , पत्रकारिता दायित्व की दिशा, परिषद भारती , जुलाई 1993, पृ. 2

जन सामान्य के अन्तर्मन में आज़ादी के मोह को प्रदीप्त करने में उन्होंने गौरवमयी भूमिका अदा की है । बेदारबख्त के संपादन में दिल्ली से प्रकाशित "पयामे आज़ादी" इस समय का एक चर्चित पत्र था जिसका प्रकाशन स्वतंत्रता आन्दोलन के नेता अजीमुल्लाखां ने 8 फरवरी सन् 1857 में दिल्ली से किया था । यह फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में छपता था । आम जनता के भीतर आत्म सम्मान की भावना जगाने में और आज़ादी के महान संदेश को प्रचरित करने में "पयामे आज़ादी" ने स्तुत्य कार्य किया था । प्रथम भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के क्रांतिकारी शलाकापुरुष मंगलपाण्डे, तांत्या टोपे, नाना साहेब, कुंवरसिंह, लक्ष्मीबाई, आदि के संग्राम और संघर्ष के अनेक दृश्य "पयामे आज़ादी" में प्राप्त होते थे । उसी तरह अंग्रेज़ी शासकों के साम्राज्यवादी लोभ की पहचान भी उसने की थी । "पयामे आज़ादी" में मुद्रित "झंडा गीत" इसका प्रमाण है ।[2] उसमें शहीदों की सलामी हुई है, गुलामी की जंजीरों को तोडने की बात है, दमन के चक्र से बाहर आने का आग्रह है, भाई-चारे की भावना है तथा स्वतंत्रता के ध्वज की वंदना करने की बात है । अंग्रेज़ी शासकों ने "पयामे आज़ादी" के बढते प्रभाव से चकित और बेचैन थे । अंत में उन्होंने बेदारबख्त को गोली चलाकर मार डाला ।[3] इस प्रकार बेदारबख्त भारतीय पत्रकारिता के प्रथम शहीद हो गये ।

"पयामे आज़ादी" ने हिन्दी पत्रकारिता को जो पथ प्रदर्शित किया था उस पर अग्रसर होकर अन्य अनेक पत्रों ने भी अंग्रेज़ी शासकों के

---

1. डॉ. राजीव दुबे हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आंदोलन 1988, पृ. 13
2. संजीव भानावत , पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, 1988, पृ. 37
3. जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी , भारत के स्वतंत्रता संग्राम में पत्रकारिता की भूमिका , गगनाञ्जल , वर्ष 12 अंक 1 , 1989 , पृ. 28

अनैतिक आचरणों की आलोचना की थी । यद्यपि हिन्दी के दैनिक पत्र "समाचार सुधावर्षण" का प्रकाशन भारत के प्रथम स्वाधीनता क्रांति के पूर्व सन् 1854 में हुआ था फिर भी उसके राष्ट्रवादी स्वर ने प्रस्तुत क्रांति के दौर में आकर ही अधिक तीव्रता हासिल की थी । पं. श्यामसुन्दर सेन उसके संपादक थे । "सन् 1857 की घटनाओं की रिपोर्ट बडे साहस और जोश के साथ समाचार सुधावर्षण" में छपती थी और ब्रिटिश सेना द्वारा किये जा रहे अत्याचारों की कडी भर्त्सना की जाती थी ।"[1] श्यामसुन्दर सेन ने "समाचार सुधावर्षण" में वैधानिक मुगल बादशाह बहादुर शाह का एक पत्र मुद्रित किया था जिसमें उन्होंने भारतीयों द्वारा अंग्रेज़ों को बाहर कर देने की इच्छा प्रकट की थी । अंग्रेज़ शासक उस पर नाराज़ हुए और श्यामसुन्दर सेन के खिलाफ अंदोलत् में मुकदमा चलाया । ऐसी आपत्ति तो "समाचार सुधावर्षण" तक सीमित नहीं रही थी, बल्कि ब्रिटिश सरकार की दमन के शिकंजे में पडकर "सोम प्रकाश", "दूरबीन", "तुलानुल" जैसे भाषायी पत्र भी अल्पजीवि रह गये थे जो तत्काल में स्वाधीनता के अर्थ को जन सामान्य के लिए परिभाषित करते आ रहे थे ।

"पयामे आज़ादी" और "समाचार सुधावर्षण" के बाद भारतेन्दु के आगमन तक के समय हिन्दी में राष्ट्रवादी पत्रकारिता की विकास-गति थोडी क्षीण हुई थी । इस अंतराल में ऐसे बहुत कम पत्र हुए हैं जिनका उल्लेख राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में अनिवार्य है ।

भारतेन्दु और नवजागरणकालीन राष्ट्रीय चेतना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का समय राजनीतिक एवं सांस्कृतिक

---

1. डॉ. राजीव दुबे , हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आंदोलन , 1988 , पृ. 284

संदर्भ में नवजागरण काल है । भारतेन्दु का पदार्पण हिन्दी पत्रकारिता की एक युगांतरकारी घटना थी । उनके प्रवेश के साथ हिन्दी पत्रकारिता की राष्ट्रीय-दृष्टि अधिक स्पष्ट हो गयी । "कविवचनसुधा", भारतेन्दु की मशहूर साहित्यिक पत्रिका थी । भारतेन्दु के जीवन का यही एक आदर्श था कि "सत्य निज भारत गहैं" अर्थात भारत स्वतंत्र हो । वे स्वदेशी के प्रचारक और आग्रही थे । भारत को स्वतंत्र कराने के उद्देश्य से उन्होंने ब्रिटिश सत्ता के विरोध में अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से अभियान चलाया, अंग्रेज़ों की उग्रनीति और आर्थिक शोषण की कटु निंदा की । अकर्मण्यता की लंबी नींद में डूबे भारतीयों के मन में राष्ट्रीय चेतना का संचार करते हुए भारतेन्दु ने लिखा - "हे, भारतवासियों, इस निद्रा से चौंको । इनके न्याय के भरोसे मन फूल रहो । यह विद्या कुछ काम न आयेगी । यदि तुम हाथ के व्यापार सीखोगे तो तुम्हें कभी दैन्य न होगा । नहीं तो अंत में यहाँ का सब धन बिलायत चला जाएगा और मुँह बाये रह जाओगे ।"[1] इन सबका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार की ओर से उन्हें अनगिनत यातनाएँ सहनी पड़ीं । पहले सरकार की ओर उनकी पत्रिकाओं की सौ-सौ प्रतियाँ खरीदी जाती थीं । सरकार ने उस प्रणाली को सदा के लिए छोड दिया तथा औरों को भी आदेश दिया गया कि वे भी ऐसा करें । उसके बुरे असर के बावजूद भारतेन्दु के सांस्कृतिक कार्यक्रम जारी रहे । भारतेन्दु की पत्रकारिता के ऐतिहासिक आयामों का रेखांकन यों किया गया है - "कांग्रेस ने अभी स्वदेशी आन्दोलन विधिपूर्वक न आरंभ किया था, न वंगभंग आन्दोलन ने जन्म लिया था । केवल हिन्दी में भारतेन्दु ने स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात बहुत पहले कर दिया था ।"[2] यों भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की नियमित व गतिशील धारा भारतेन्दु से शुरू होती है ।

---

1. जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी के लेख "भारत के स्वतंत्रता संग्राम में पत्रकारिता की भूमिका" से उद्धृत • गगनाञ्जल • वर्ष।2 अंक । • 1989
2. डा. रामविलास शर्मा • भारतेन्दु युग • 1963 • पृ. 5।

भारतेन्दु और "कविवचनसुधा" की राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित होकर उस काल में अन्य अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई थीं । "हिन्दी प्रदीप" (1877), "भारत मित्र" (1878), "ब्राह्मण" (1883), "हिन्दोस्थान" (1885) आदि ऐसे कुछ पत्र थे जिनकी नवजागरणवादी व राष्ट्रवादी आवाज़ ने भारत के जन सामान्य को आज़ादी की संग्राम भूमि में उपस्थित होने की प्रेरणा प्रदान की ।

"हिन्दी प्रदीप" भारतीय राष्ट्रीयता का सच्चा पक्षधर माना जाता है । उसमें तिलक की क्रांतिकारी चिंतन का गहरा असर था । सत्ता की समाज-विरोधी आचरणों और कुत्सित नीतियों के प्रति "प्रदीप" ने कटु असंतोष अभिव्यक्त किया था । अंग्रेज़ी सरकार के "प्रेस एक्ट" के खिलाफ प्रकट की गयी घोर निंदा इसका उदाहरण है । "अखबारवालों की बड़ी हानि की बात इसमें यह है कि जब इस एक्ट के विरुद्ध कोई बात पत्र में छपेगी तो जिले का मजिस्ट्रेट उस अखबार के पब्लिशर या प्रिंटर को लोकल गवर्नमेंट की आज्ञा लेकर तलब करेगा और धमकी दे देवाय उससे एक मुचलका लिखवा लेगा कि फिर ऐसी बात इसमें न छपे । वाह, क्या न्याय है, जो मजिस्ट्रेट प्रिंटर लेखकों को समझे नहीं मुन्सिफ बन उससे मुचलका भी लिखवा लेगा । भला ऐसा भी कभी सुनने में आया है कि जो किसी को दोष लगावे वही उसका न्याय भी करे ।"[1] इन सबका नतीजा यह था कि अंग्रेज़ सरकार ने "हिन्दी प्रदीप" को हमेशा के लिए बंद कर दिया । लेकिन "प्रदीप" ने पत्रकारिता के क्षेत्र में अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का जो सवाल उठाया था जिसको परवर्ती पत्र-पत्रिकाओं ने जारी रखा ।

---

1. हिन्दी प्रदीप , मई 1878 , संपादकीय पृष्ठ

भारतेन्दु का दौर पत्रकारिता के लिए अत्यंत संकट का समय था । अंग्रेज़ों की अनियंत्रित शासन नीतियों से तत्कालीन उदीयमान व राष्ट्रीय चेतना के धनी पत्रकार काफी पीडित होते थे । दूसरी ओर राष्ट्रीय शब्द से अनजान भारतीयों में राष्ट्रीयता का संचार करना उनके लिए एक कठिन चुनौती थी । भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता ने यह काम कर दिखाया ।[1] दरअसल तत्कालीन समाचार पत्रों के अग्रलेख, लेख एवं राष्ट्रीय टिप्पणियाँ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक और दिशा निर्देशक अवश्य बनी रही हैं ।

राष्ट्रवादी पत्रकारिता का वंगीय संदर्भ

वंगभूमि से प्रकाशित "भारतमित्र," "सारसुधानिधि "और "नृसिंह " ऐसे तीन पत्र थे जिन्होंने पत्रकारिता के कर्म और आदर्श को स्वीकारते हुए भारत की आज़ादी के लिए अंग्रेज़ों से लडाई की थी । यद्यपि उनकी लडाई वैचारिक स्तर पर हुई थी फिर भी उसका प्रभाव ज़्यादा विस्तृत था । पत्रकारिता संबंधी उनका दृष्टिकोण नितांत यह रहा था - "धर्म की रक्षा करते हुए, यदि गवर्नमेंट को सत्य परामर्श करते हुए जेल जाना पडे तो क्या चिंता है ।"[2] उनके काल में देश के हित का कोई ऐसा आन्दोलन नहीं था जिसमें उन पत्रों ने अपना साथ न दिया हो ।

भारतमित्र

"भारतमित्र" नवजागरण काल का एक प्रगतिशील, उदारवादी, जनपक्षधर एवं लोकप्रिय पत्र था । वह मूलत: एक राजनीतिक पत्र था ।

---

1. डॉ. वंशीधर लाल, भारतीय स्वतंत्रता और हिन्दी पत्रकारिता, 1989, पृ. 18
2. सारसुधानिधि, 12 मई 1883, संपादकीय पृष्ठ

पं. छोटूलाल मिश्र और दुर्गाप्रसाद मिश्र के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप कलकत्ता से सन् 1872 में "भारतमित्र" का पहला अंक प्रकाश में आया । उसका आदर्श था "सत्यनिष्ठ लोगों की जय हो, उनके मनोरथ सिद्ध हो ।" भारत के राष्ट्रीय सांस्कृतिक और सामाजिक पुनरूत्थान के लिए वह समर्पित था । संपादकाचार्य बालमुकुन्द गुप्त की संपादन अवधि में "भारत मित्र" का राष्ट्रीय स्वर अत्यंत तेज था । उनके उग्र व विचारोत्तेजक संपादकीय लेखों ने भारतवासियों पर आशातीत प्रभाव छोडे हैं ।

"भारतमित्र" की पत्रधर्मिता का सबसे उज्ज्वल दृश्य "बंगाल-विभाजन"के संदर्भ में दिखाई देता है । पराधीन भारत एक मुख्य घटना थी बंगाल-विभाजन । बंगाल की राजनीतिक एकता को खंडित करने के एवं स्वतंत्रता आंदोलन की ज्वाला को क्षीण कर देने के गुप्त उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने बंगाल को विभाजित करने का निश्चय किया था । जुलाई सन् 1905 में बंगाल-विभाजन की घोषणा दी गई । पूरे भारत में उसके विरूद्ध जो आंदोलन चल रहे थे उनके वंगीय नेतृत्व का-सा काम कर रहा था "भारतमित्र" । अंग्रेज़ी सत्ता के प्रस्तुत षड्यंत्र की उग्र आलोचना करते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने "भारत मित्र" में लिखा -"आप के {अंग्रेज़ों के} शासन काल में इस देश के लिए अंतिम विषाद और आपके लिए अंतिम हर्ष है । यह बंग-विच्छेद बंग का विच्छेद नहीं हुए, युक्त हो गए, जिन्होंने गत 16 अक्तूबर का दृश्य देखा है । वे समझ सकते है कि बंगदेश या भारत वर्ष में नहीं पृथ्वी भर में वह अपूर्व दृश्य था । आर्य संतान उस दिन अपने प्राचीन देश में विचरण करती थी । बंग-भूमि ऋषि-मुनियों के समय की आर्य भूमि बनी हुई थी । किसी अपूर्व शक्ति ने उसके उस दिन राखी को बाँध दिया था । बहुत काल के पश्चात् भारत के संतान को होश हुआ कि भारत की

---

1. अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, 1976, पृ. 160

मिट्टी बंदना योग्य है । इसी से वह ज़ोर से बन्दे मातरम् कहकर चिल्ला उठे । बंगाल के टुकडे नहीं हुए, भारत के अन्याय टुकडे भी बंग देश से आकर चिपट जाते है ।"[1] इसके अतिरिक्त "भारत मित्र" में अनेक जागरण गीत भी मुद्रित हुए थे जिनमें वंगभंग की कटु आलोचना मिलती थी ।[2] "भारतमित्र" के स्वर से स्वर मिलाकर तत्कालीन अन्य पत्रों ने भी बंगाल-विभाजन के खिलाफ नारा उठाया था । नतीजतन बंगभंग का निश्चय सरकार ने छोड दिया जो भारत की राष्ट्रवादी पत्रकारिता एक सार्थक काण्ड है ।

सारसुधानिधि

वंगदेश से प्रकाशित एक दूसरा महत्वपूर्ण पत्र था "सारसुधानिधि" जिसने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रियता से भाग लिया था । पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र और सदानंदजी के संयुक्त प्रयास से सन् 1879 में "सारसुधानिधि" का प्रकाशन शुरू हुआ था । वह अपने ज़माने का एक ओजस्वी पत्र था । उसकी लडाई सदा सत्ता के खिलाफ थी । उसमें ब्रिटिश शासकों के कराल हाथों से भारतीय आत्मा को मुक्त करने की बलवती इच्छा थी । एक अवसर पर "सारसुधनिधि" ने लिखा -"प्रजा के आवेदन पर नज़र नहीं करना अति संकीर्ण राजनीति है, ऐसी नीति अवलम्ब करके ब्रिटिश गवर्नमेंट स्थापित नहीं हुआ है और इस प्रकार की नीति अवलम्ब करने से राज्य भी बहुत दिन रहने का नहीं ।[3] इस प्रकार उसने भारतीयों के आत्म-सम्मान का गला घोटनेवाली सरकारी नीतियों का बडा विरोध किया था । वह सही अर्थ में एक गैर सरकारी पत्र था ।

---

1. बालमुकुन्द गुप्त, वंग विच्छेद, भारतमित्र, 1905, संपादकीय पृष्ठ
2. भारतमित्र, स्वदेशी आंदोलन अंक, अगस्त 1906, पृ. 23
3. सारसुधानिधि, लार्ड लीटन और उनकी कौंसिल, 23 जून, 1871, संपादकीय पृष्ठ

"सारसुधनिधि" में समय समय पर राजनीतिक विषयों पर खूब चर्चाएँ आयोजित होती थीं । पाठक वर्ग को राजनीतिक शिक्षा देने में उसने बेहद उत्साह दिखाया था । वह अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी का एक प्रबल एवं प्रतिबद्ध आलोचक था ।

नृसिंह

कलकत्ता की हिन्दी की राष्ट्रवादी पत्रकारिता के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है "नृसिंह"। अंबिकाप्रसाद वाजपेयी के संपादन में नवंबर 1907 में उसका प्रकाशन हुआ था । देशवासियों की आशा-आकांक्षाओं को वाणी देने में "नृसिंह" सदा जागरूक था । विदेशी दासता से बुरी तरह उत्पीडित भारतीयों की अन्तर्स्थली में आत्मसम्मान की रंगीन भावनाएँ भरने में अंबिका प्रसाद वाजपेयी ने "नृसिंह" के पृष्ठों का व्यापक इस्तेमाल किया है । उन्होंने भारतवासियों को अपने दायित्व की याद दिलाते हुए स्वतंत्रता आंदोलन की ओर उन्हें अग्रसर किया । "नृसिंह" ने स्वदेशी आन्दोलन को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया था और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर ज़ोर दिया था । "नृसिंह" में स्वराज्य का आग्रह अत्यधिक तीव्र था । "नृसिंह" के चौथे अंक में स्वराज्य की आवश्यकता पर बल देते हुए संपादक ने लिखा था - "स्वराज्य की आवश्यकता भारतवासियों को इसलिए है कि विदेशी सरकार उनके अभाव अभियोगों को समझने में असमर्थ है । यदि आज यहाँ स्वराज्य होता तो लाखों हिन्दुस्तानी दुर्भिक्ष के कारण दाने पाने को तरसकर प्राण न गँवाते.... स्वराज्य के अभाव से ही प्रतिवर्ष 45 करोड रुपये इस दरिद्र देश से इंग्लैंड चले जाते हैं ।"[1] इस प्रकार नृसिंह का तेवर घोर राजनीतिक था । उसमें भी ऐसे अनेक लेख, गीत और कविताएँ लगातार प्रकाशित होते थे जो पाठकों में स्वाधीनता का मोह तथा आत्मगौरव उद्दीप्त करने में सहायक थे ।

---

1. डॉ. रमेश जैन के "भारत में हिन्दी पत्रकारिता" से उद्धृत, 1989, पृ. 189

राष्ट्रीय आन्दोलन एवं क्रांतिशील पत्रकारिता का आरंभ

भारत की राष्ट्रवादी पत्रकारिता की एक शाखा क्रांतिशील पत्रकारिता की है । भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन की गति को तीव्र करने के और भारतवासियों में क्रांति-चेतना उत्पन्न करने के उद्देश्य से भारत के विभिन्न भागों में क्रांतिशील पत्रकारिता का आरंभ हुआ था । सन् 1906 में अरविन्द घोष के छोटे भाई बारीन्द्रकुमार घोष और भूपेन्द्रनाथ दत्ता के सम्मिलित संपादन में कलकत्ता से प्रकाशित "युगांतर" क्रांतिशील पत्रकारिता का सही प्रमाण था । वह विद्रोही पत्रकारिता का प्रस्थान बिन्दु माना जाता है । हिंसा की उग्र विचारधारा को प्रोत्साहित करनेवाले इस पत्र में छपे हुए लेख उतने नुकीले व प्रखर थे कि जिनसे अंग्रेज़ों ने खूब चोट खायी थी । फलत: "युगान्तर" के संपादक कई बार अदालत में बुलाये गये और बहुविध यातनाओं के शिकार हो गये । आखिर सरकार ने सन् 1908 को "युगांतर" को एक भयंकर गैर सरकारी पत्र घोषित करके बंद कर दिया । भारत की युवा पीढी पर वर्षों तक "युगांतर" का असर बना रहा था ।

सन् 1906 में अरविन्द घोष के संपादन में कलकत्ता से प्रकाशित "वन्देमातरम्" भी अपने समय का एक क्रांतिशील पत्र था । उसका आदर्श वाक्य था, "भारत भारतवासियों के लिए है ।" सुबोधचन्द्र मलिक और देशबन्धु चित्तरंजन दास उसके प्रकाशक थे । वंदेमातरम् की वाणी में इतनी आग थी वह तुरंत ब्रिटिश शासकों के कठिन विरोध का शिकार बन गया । अंत में अदालत की ओर से अरविन्द घोष को सजा दी गयी ।

क्रांतिशील विचारधारा से विभोर होकर पत्र और भी प्रकाशित होते थे जिनमें "विश्व मित्र," "स्वतंत्र," "संध्या" और "नवशक्ति" ज़्यादा प्रमुख थे । उन्होंने भारत के राष्ट्रीय संग्राम में क्रांति और विद्रोह के कई

तत्व जोड दिये हैं । इसलिए कहा जाता है भारत का क्रांतिकारी आन्दोलन बंदूक और बम के साथ नहीं समाचार पत्रों से शुरू हुआ है ।[1] यह भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का एक विशिष्ट प्रकरण है ।

आज़ादी का शंखनाद करने वाले इस समाचार पत्रों की स्वाधीन चेतना को छीन लेने का प्रयास समय समय पर किया गया है जिसका गंभीर विरोध भी उनके संपादकों ने किया है । गैर सरकारी विचार प्रचरित करने के आरोप में सत्ता द्वारा उनसे कई बार जमानत की माँग की गयी थी । जब जमानत देने में वे असफल निकले तो हमेशा के लिए उनके पत्र बंध किये गये ।

तिलक और "हिन्दी केसरी"

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना (1885 ई.) के साथ ही भारत की प्रांतीय भाषाओं में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं । "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के उपरांत पत्रकारिता के क्षेत्र में गंभीर और विद्रोहात्मक परिवर्तन होने लगे ।"[2] सन् 1881 को चिपलूडकर के संपादन में पूणे से प्रकाशित "केसरी" राष्ट्रवादी चेतना का एक प्रबल एवं समर्थक पत्र था । "केसरी" के जन्म के दस साल बाद सन् 1890 में भारतीय राजनीति के ओजस्वी नेता लोकमान्य तिलक "केसरी" के संपादक हो गये । तिलक की उग्र विचारधारा की स्पष्ट झलक "केसरी" के संपादकीय पृष्ठों में उपलब्ध होती थी । लोगों में जागृति, संघशक्ति और उत्साह

---

1. जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य, 1987, पृ. 128
2. डॉ. ब्रह्मानंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता, 1986, पृ. 38

उत्पन्न करना यही पत्रकार की दृष्टि से हमारा पहला कर्तव्य है, ऐसा हम मानते हैं । हम जो लेख लिखते हैं, राजकर्ता के लिए नहीं लिखते, परंतु अपने मन के सब विचार, सारी उत्साह शक्ति और संपूर्ण आग पाठकों के मन में उतरे, इसी हेतु लिखते है ।"[1] तिलक की पत्रधर्मिता का यही मूल उत्स था ।

तिलक और "केसरी" से प्रेरित होकर 13 अप्रैल 1907 में बालकृष्ण शिवराम मुंजे ने पं. माधराव सप्रे के संपादन में, नागपुर से "हिन्दी केसरी" निकालना आरंभ किया । वह राष्ट्रीय चेतना का एक प्रबल पत्र था । उसमें तिलक की उग्र व ओजस्वी चिंतन-पद्धति की स्पष्ट छाप मिलती थी । "हिन्दी केसरी" ने जनता को तत्कालीन व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाने की प्रेरणा प्रदान की थी । उसमें तिलक के राजनीतिक लेखों के अनुवाद बडी मात्रा में मुद्रित होते थे ।

"हिन्दी केसरी" का उत्कर्ष भारतीय आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में हुआ था । स्वतंत्रता आन्दोलन को तीव्रता प्रदान करने में उसने अप्रतिम योगदान दिया है । "हिन्दी केसरी"के प्रत्येक अंक में मौलिक संपादकीय लेखों और निबंधों को प्रकाशित किया जाता था । इनमें संपादकीय समसामयिक परिस्थितियों पर होते थे जो अंग्रेज़ों की नीतियों पर कटु प्रहार, देश के कर्तव्य इत्यादि विषय पर रहते थे ।[2] हिन्दी केसरी जो राष्ट्रीय दृष्टि होती थी वह उसके मुखपृष्ठ पर आदर्श वाक्य के रूप में छपी थी जिसमें अंग्रेज़ों को सावधान होने की चेतावनी दी गयी थी ।

---

1. तिलक, केसरी, अप्रैल 1919, संपादकीय पृष्ठ
2. डॉ. राजीव दुबे, हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आन्दोलन, 1988, पृ. 46

"हिन्दी केसरी" अपने समय का एक प्रखर पत्र था । विदेशी शासकों की कार्रवाईयों की जानकारी जनता तक पहुँचाने में वह सफल निकला है । उसने निर्भीक होकर अंग्रेज़ नौकरशाही पर तीखा प्रहार किया था । "हिन्दी केसरी" से तत्कालीन अंग्रेज़ी शासन बहुत परेशान रहे थे । फलत: सन् 1908 में माधव राव सप्रे गिरफ्तार किये गये जो हिन्दी की राजनैतिक पत्रकारिता की एक प्रमुख घटना थी । आम जनता के मन में "हिन्दी केसरी" के प्रति आत्मीयता इतनी गहरी थी कि सप्रे की गिरफ्तारी के उपरांत भी "हिन्दी केसरी" का प्रकाशन सरकार बंद न कर पायी । सप्रे के बाद लक्ष्मीधर वाजपेयी ने "हिन्दी केसरी" भार अपने ऊपर ले लिया । "हिन्दी केसरी" का महत्व इसलिए भी है कि उसने तत्कालीन प्राय: तमाम पत्र-पत्रिकाएँ पर अपना अक्षुण्ण प्रभाव छोडा था ।

बीसवीं शती के आरंभिक दशकों में भारत में बहुत-से छोटे-बडे पत्र प्रकाशित होते थे । उनका मुख्य और मूलभूत प्रतिपाद्य तत्कालीन राजनीतिक अथवा राष्ट्रीय परिस्थिति रहा था । उनमें शांति नारायण के संपादकत्व में प्रकाशित"स्वराज्य; मदन मोहन मालवीय के "अभ्युदय"और पं. सुन्दरलाल के "कर्मयोगी"ने अपनी राजनीतिक गरिमा की वजह से खूब यश प्राप्त की थी । उनके अतिरिक्त"हिन्दी बंगवासी;"शुभचिंतक;"आर्यसेवक; "सुबोधसिंधु;"देशसेवक"आदि भी बीसवीं शती के प्रारंभिक दौर के कुछ प्रमुख पत्र माने जाते हैं । इस काल खंड की सबसे महत्वपूर्ण दो चर्चित पत्रिकाएँ थीं - "सरस्वती" और "प्रभा" । उनके संपादक क्रमश: महावीर प्रसाद द्विवेदी और माखनलाल चतुर्वेदी थे । ये मूलत: साहित्यिक पत्रिकाएँ थीं । फिर भी उनमें राजनीतिक और राष्ट्रीय गतिविधियों की उपेक्षा नहीं हुई थी । अपनी राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति इन पत्रिकाओं ने मुख्यत: सर्जनात्मक सामग्रियों के द्वारा की थी । उनमें देशप्रेम" एकता, स्वाधीनता बोध और जातीयता को जागृत करने योग्य कई गीत, कविताएँ व गद्य रचनाएँ मुद्रित होती थीं ।

गाँधीजी की पत्रकारिता की राष्ट्रीय भूमिका

जिस प्रकार गाँधीजी के दर्शन ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को दिशा दी है उसी प्रकार उनकी पत्रकारिता ने भारतीय पत्रकारिता को विशेषकर हिन्दी पत्रकारिता को बड़ी गहराई से प्रभावित किया है । "इंडियन ओपिनियन", "नवजीवन," "हरिजन," "हरिजन सेवक "और "हरिजन बन्धु" गाँधीजी के संपादकत्व में प्रकाशित मुख्य पत्र थे । इनके अलावा उन्होंने "सत्याग्रह" नामक एक बुलेटिन को भी निकाला था जिसका मूल उद्देश्य राउलेट एक्ट का विरोध था ।[1]

4 जून 1903 में डर्बन से प्रकाशित "इंडियन ओपिनियन" एक साप्ताहिक पत्र था जो अंग्रेज़ी, हिन्दी, गुजराती और तमिल में निकलता था । गाँधीजी के लिए वह लड़ाई लड़ने का एक उपयोगी और प्रबल साधन था । विदेशों में बसे हिन्दुस्तानियों के मन में सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना का संचार करना और उनको अपने अधिकारों व दायित्वों के प्रति जागरूक करना "इंडियन ओपिनियन" के उद्देश्य थे । बाद में वह भारत के राजनीतिक आंदोलनों में थोड़ा-सा भाग लेने लगा । "यंग इंडिया" गाँधीजी द्वारा संपादित दूसरा साप्ताहिक पत्र था । महादेव भाई, शंकर लाल बैंकर, जे.पी.कुमरप्पा, आदि की प्रेरणा से "हिन्दी नवजीवन" का प्रकाशन शुरू हुआ । "इंडियन ओपिनियन" की तुलना में "नवजीवन" की दृष्टि प्रखर थी । उसके संपादकीय लेखों में गाँधीजी ने अंग्रेज़ों की उग्र नीतियों की कठिन आलोचना की थी जिसपर वे अत्यधिक नाराज़ हुए थे । नतीजतन गाँधीजी गिरफ्तार किया गया और उन्हें छे महीने के कारावास की सजा दी गयी और "यंगइंडिया "का प्रकाशन कुछ काल के लिए स्थगित हुआ ।

---

1. P.C.Roy Chaudhary, GANDHI THE MAN, 1964, P.56

गाँधीजी की पत्रधर्मिता का चरमोत्कर्ष "हरिजन" में पाया जाता है जो पहले अंग्रेज़ी में, फिर हिन्दी में निकलता था । सामाजिक उन्नयन और राष्ट्रीय जागरण को लेकर उसका प्रकाशन कार्य हुआ था । "हरिजन" के संबंध में सामान्यत: गाँधीजी का आदर्श यही था कि "हरिजन" कोरा समाचार पत्र नहीं, बल्कि जन-साधारण का विचार पत्र है जिनके लक्ष्य है जन साधारण की समस्याओं की तरफ पाठकवर्ग की योजना को आकृष्ट करना और सामाजिक क्रांति को तेज करना ।[1] गाँधीजी की पत्रकारिता पराधीन भारत की पत्रकारिता का सार्थक प्रतिमान था और जनचेतना वास्तविक निदर्शन था । उनके विचार में समाचार पत्र एक उदात्त सामाजिक संस्था है और जनमत के निर्माण का महान साधन है ।[2] उनके पत्र भारत के स्वाधीनता आंदोलन के समर्थक स्वर थे । अपने पत्रों के ज़रिए गाँधीजी ने तत्कालीन भारतीय पत्रों को राष्ट्रीय आंदोलन के पथ पर आगे बढने की ऐतिहासिक प्रेरणा दी । "प्रताप," "आज," "मतवाला," "कर्मवीर" जैसे गाँधीयुग की अधिकतर हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ गाँधीजी की पत्रकारिता से अत्यंत प्रभावित थीं ।

बीसवीं शती के प्रथम दो दशक राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यंत गौरवमयी थे । वंगभंग , स्वदेशी आंदोलन, मार्ले-मिन्टो सुधार, मोण्डेगु-चेम्सफर्ड योजना, होमरूल लीग आदि उस दौर के प्रमुख राजनीतिक मुद्दे थे । तद्युगीन पत्रों ने उन मामलों पर अनेक चर्चाएँ व परिसंवाद आयोजित करते हुए जनता का ध्यान आकृष्ट किया था । उस समय ब्रिटिशों की दमनशीलता अपनी चरम स्थिति पर थी । उन्होंने अपने विरुद्ध उठाये गये हर स्वर का दमन बडी निष्ठुरता सहित किया था । उनके द्वारा पराधीन भारत के

---

1. गाँधीजी, हरिजन, 24 सितंबर, 1938, संपादकीय पृष्ठ

2. P.C.Roy Chaudhary, GANDHI THE MAN, 1974, P.61

प्रतिबद्ध, देशप्रेमी पत्रकार एवं संपादक लगातार सताये जा रहे थे । कभी जमानत है तो कभी गिरफ्तार । इस लिहाज से "स्वराज्य" में श्रद्धाराम द्वारा प्रकाशित एक अनोखे विज्ञापन का उल्लेख किया जा सकता है । "चाहिए "स्वराज्य" के लिए एक संपादक । वेतन दो सूखी रोटियाँ, एक गिलास ठंडा पानी और हर संपादकीय के लिए दस साल जेल ।"[1] इस विज्ञापन की प्रतिक्रिया केवल तीन ही व्यक्तियों की थी । आखिर अमीरचंद नियुक्त हो गये । 25 दिसंबर 1910 को अमीरचंद गिरफ्तार किये गये और उनसे एक हज़ार रुपये की जमानत माँगी गयी । नहीं "स्वराज्य" की अंत हुआ । उसी तरह कलकत्ता का "कर्मयोगिनी", पंजाब का "मुजाहित", नागपुर का "देशसेवक" आदि पर विदेशी साम्राज्यशाहियों का कुठाराघात पडा था ।

गणेशशंकर विद्यार्थी और "प्रताप"

"प्रताप" भारत का एक प्रमुख राष्ट्रवादी साप्ताहिक समाचार पत्र था । नवंबर 1913 में कानपुर से गणेश शंकर विद्यार्थी ने "प्रताप" का प्रकाशन शुरू किया । उनकी आस्था थी कि मनुष्य की उन्नति सत्य की जीत के साथ बंधी है, इसलिए सत्य को दबाना महापाप है और उसका प्रचार एवं प्रकाश महापुण्य । गणेश शंकर विद्यार्थी का पूरा जीवन पत्रकारिता के लिए समर्पित था । विद्यार्थी ने जहाँ एक ओर देशी रियासतों की चुनौतियों और कलुषों पर प्रहार किया वहाँ दूसरी ओर विदेशी शासन की धज्जियाँ उठायी । आम भारतीयों में आत्माभिमान का मंत्र फूँकते हुए, विद्यार्थी ने अपने अग्रलेखों द्वारा भारत के सोये हुए जनमानस को जगाते हुए, उन्हें राष्ट्रीयता का अर्थ समझाया ।

---

1. डॉ. बच्चनसिंह के "हिन्दी पत्रकारिता के नये प्रतिमान" से उद्धृत, 1989, पृ. 1

गणेशशंकर विद्यार्थी का "प्रताप" राष्ट्रीय आंदोलन और नवचेतना का नितांत प्रेरक था । साहस और निर्भीकता "प्रताप" की अस्मिता थी । वह सत्ता की आँख का कांटा था कि वह सत्ता द्वारा कई बार पीड़ित हुआ था । "प्रताप" गाँधीजी की चिंतन-धारा से प्रभावित था । महात्मा गाँधी के असहयोग आंदोलन और जनसंघर्षों के व्यापक आधार तथा समाज सुधार और रचनात्मक कार्यों की समग्र अभिव्यक्ति विद्यार्थी के "प्रताप" समाचार पत्र में हुई है ।[1] वह तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों से सदा लाभान्वित था । "प्रताप" में ऐसी रचनाएँ बड़ी मात्रा में प्रकाशित की जाती थीं जो स्वतंत्रता संग्राम में काम में आती थीं । मैथिलीशरण गुप्त की "भारत-भारती", किसान आदि कविताएँ उसी में छपती थीं । प्रत्येक वर्ष में प्रकाशित "प्रताप" के राष्ट्रीय अंक उसके देश प्रेम और राष्ट्रीय जागृति के प्रमाण हैं ।

"प्रताप" तत्काल की उन सांप्रदायिक प्रवृत्तियों के घोर विरोधी था जिनका राष्ट्रीय आंदोलनों पर बुरा असर पड़ रहा था । अतएव उसने हिन्दु, सिक्ख और मुसलमान की सांस्कृतिक एकता पर पर्याप्त बल दिया था और धार्मिक उन्माद के खिलाफ जनचेतना को जागृत किया था । उसमें संस्कृति एवं परंपरा के नाम पर चलनेवाली विकृतियों, धार्मिक रूढ़ियों, वर्जनाओं तथा हिंसाओं पर प्रखर टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई थीं । "प्रताप" की असीम संभावनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि महाराष्ट्र में "केसरी" का जो स्थान था वही स्थान हिन्दी में "प्रताप" का था ।

"प्रताप" के बाद हिन्दी में राष्ट्रीय आंदोलन के कई समर्थक

---

1. गोपालकृष्ण शर्मा, राष्ट्रीय आंदोलन में "प्रताप" और अन्य पत्रों की भूमिका, समकालीन सृजन, जनवरी-दिसंबर 1981, पृ. 95

पत्र प्रकाशित हुए थे जिनमें, "सत्याग्रही," "देशभक्त," "विश्वामित्र," "हितवादी," "सेनापति," "हिन्दु-पंच," "कर्मवीर "और "आज "मुख्य थे । उनका चरम लक्ष्य भारत की आज़ादी थी । उस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने जनत ै वैचारिक आंदोलन चलाया था । अनेक प्रतिभाव पत्रकार और लेखक ट ग लिए थे । उनमें माखनलाल चतुर्वेदी का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिनका पत्र था "कर्मवीर" ।

माखनलाल चतुर्वेदी और "कर्मवीर"

अंग्रेज़ी सत्ता के साम्राज्यवादी शिकंजे से भारत को विमोचित करने की अभीप्सा से 17 जनवरी 1920 ई. में जबलपुर से "कर्मवीर "का प्रकाशन शुरू हुआ । "कर्मवीर" के आरंभिक संपादक थे माधव राव सप्रे । तदुपरांत युगचेता माखनलाल चतुर्वेदी की तेज तूलिका से "कर्मवीर "का संपादकीय पृष्ठ लाभान्वित हो गया । "कर्मवीर "तत्कालीन राजनीतिक आंदोलनों का सही प्रतिबिंब था । उसमें जातीय मोह अधिक स्फूर्त था । वह गाँधीजी के विचारों का अनुयायी था । उस काल में गाँधीजी के नेतृत्व पर जो स्वतंत्रता संग्राम भारत वर्ष में चल रहे थे उनमें सक्रियता से भाग लेते हुए "कर्मवीर "ने अंग्रेज़ी शासकों की कुटिल नीतियों के कई परिदृश्य प्रस्तुत किये हैं । गाँधीजी के सत्याग्रह आंदोलन के समर्थन में माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा -"सत्याग्रह वहाँ भी विजयी होता है जहाँ कमान्डरों की क्रूरता मनुष्य को रक्त स्नान करा रही हो ।"[1]

माखनलाल चतुर्वेदी और "कर्मवीर "राष्ट्रीय जागरण के वास्तविक प्रोत्साहक थे । "कर्मवीर" स्वयं चतुर्वेदी की आत्मा थी । वह मातृभूमि और

---

1. कर्मवीर, 24 जनवरी, 1920, संपादकीय पृष्ठ

मानवीयता का गुण गायक था । जातीय आबोहवा की वर्तमान हिंसा-मुद्रा देखने से "कर्मवीर" की भूमिका सहज ही स्मरण हो आती है जो आज के पत्रकारों और राजनेताओं को सही दिशा-निर्देश दे सकती है ।"[1] अंग्रेज़ी सत्ता द्वारा "कर्मवीर" भी बहुविध पीडित हुआ था । उसके संपादक पर राज्यद्रोह का आरोप लगाया गया था और गिरफ्तार करके जेल भी भेजे गये थे । भारत के राष्ट्रीय आंदोलनों में रचनात्मक भूमिका देने वाले हिन्दी पत्रों में "कर्मवीर" अवश्य अगणी था ।

परांडकर और "आज"

"कर्मवीर" के ज़माने का एक मशहूर पत्र था "आज" जिसके संपादक थे बाबूराव-विष्णु पराडकर । वे तिलक के विचारों के अनुयायी थे । 5 दिसंबर 1920 में शिवप्रसाद गुप्त ने, काशी से "आज" का प्रकाशन आरंभ किया था । भारत के गौरव की वृद्धि, देशोन्नति के कार्य में सहयोग, देशवासियों में स्वाभिमान का संचार, देश के लिए हर प्रकार से स्वतंत्रता पाना तथा हर बात में स्वतंत्र होना "आज की संपादकीय नीति का मूलाधार" था ।[2] जन्म भूमि का सर्वांगीण सेवा उसका चरम मोह था ।

पराडकर एक उदीयमान पत्रकार थे । "आज" में उन्होंने ऐसे अनेक अग्रलेख लिखे थे जो राष्ट्रीय संघर्ष के दिनों में कई बार काम में आये थे। "आज" की संपादकीय रुचि का परिचय उसके अग्रलेखों में लगातार तीन महीने तक प्रकाशित इस पंक्ति से प्राप्त होता है -"देश की दरिद्रता, विदेश जाने वाली

---

1. डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र, पत्रकारिता इतिहास और प्रश्न, 1993, पृ. 69
2. डॉ. ब्रह्मानंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और उत्तरप्रदेश की हिन्दी

लक्ष्मी, सर पर बरसनेवाली लाठियाँ, देश भक्तों से भरनेवाले कारगार इन सब को देखकर प्रत्येक देश भक्त के हृदय में अहिंसा मूलक जो विचार उत्पन्न हो वही संपादकीय विचार है ।"[1] राष्ट्रीय एकता, देश प्रेम, राष्ट्रोत्थान की भावना, मर्यादित आकांक्षा, उच्च आदर्श, सेवा भाव आदि आज की विशेषताएँ थीं । "आज" के उद्देश्य के बारे में पराडकर का विचार था -"हमारा उद्देश्य अपने देश के लिए सर्वप्रकार से स्वातंत्र्य उपार्जन है । हम हर बात में स्वतंत्र होना चाहते हैं । हमारा लक्ष्य है कि हम अपने देश का गौरव बढाये, अपने देशवासियों में स्वाभिमान का संचार करें, उनको ऐसा बनावे कि भारतीय होने का उन्हें अभिमान हो, संकोच न हो ।"[2] आज में देश प्रेम और आज़ादी विषयक कई सामग्रियाँ प्राप्त होती थीं जिनका लेखन तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं ने किया था । इन सबके हेतु अंग्रेज़ों ने पराडकर पर राज्यद्रोह का आरोप लगाया । उन्हें डेढ साल का दंड दिया गया और उनसे जमानत भी माँगी गयी ।

इलाहाबाद का "अभ्युदय", मुरादाबाद का "साप्ताहिक विजय," झाँसी का "किसान" "मज़दूर" आदि इस धारा के अन्य पत्र थे । स्वतंत्रता संग्राम को तीव्र करने के लक्ष्य से उन्होंने वीर शहीदों पर कई अंक निकाले थे और राष्ट्रीय एवं आत्मसम्मान से ओतप्रोत बहुत-से गीत व कविताएँ छपी थीं ।

राष्ट्रवादी पत्रकारिता का उत्कर्ष

सन् 1920 और 1947 के बीच स्वाधीनता आंदोलन में

---

1. डॉ. गंगा नारायण त्रिपाठी के "हिन्दी पत्रकारिता और गद्यशैली का विकास" से उद्धृत, 1987, पृ.97

अनेक मोड आये हैं । सत्याग्रह आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन, भारत छोडो आंदोलन आदि ऐसे कुछ मोड हैं जिन्होंने हिन्दी पत्रकारिता की राष्ट्रीय चेतना को समय-समय पर उद्दीप्त किया था । यह काल हिन्दी पत्रकारिता का ओजस्वी काल है । चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू का "स्वराज्यदल", रामवृक्ष बेनीपुरी के "कैदी", "तूफान", और "योगी", निराला का "मतवाला" शिवपूजन सहाय का "हिमालय", लक्ष्मीनारायण गर्दे का "श्रीकृष्ण संदेश", बनारसी दास चतुर्वेदी का "विशाल भारत", राम गोपाल महेश्वरी का "नव भारत", "रामचन्द्र शर्मा का "महारथी", हरिभाउ उपाध्याय का "त्यागभूमि" कृष्णदास दालीवाल का "सैनिक", यशपाल का "विप्लव", सत्यदेव विद्यालंकार का "हिन्दुस्तान" आदि हिन्दी के तत्कालीन मुख्य समाचार पत्र थे । वे भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए पूरी तरह समर्पित थे और वे आम तौर पर गाँधीजी की विचार धारा के वाहक थे । "मतवाला" के संपादकीय लेख का यह अंश इस तथ्य का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है -"यदि आप स्वतंत्रता के अभिलाषी हैं, अपने देश में "स्वराज्य" की प्रतिष्ठा चाहते हैं तो तन मन धन से अपने नेता महात्मा गाँधी के आदर्शों का पालन करना आरंभ कीजिए ।"[1] इन पत्रों के अलावा भारत के विभिन्न प्रांतों व इलाकों की सैकडों छोटी-बडी पत्र-पत्रिकाओं ने आज़ादी के आंदोलनों में काफी उत्सुकता सहित भाग लिया था । वे अपने राष्ट्रीय जीवन के तीव्र स्पन्दन होते थे । यों हम साक्ष्य होते हैं कि भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के पूरे परिदृश्य में, राष्ट्रवादी विचारधारा का प्रचार करते हुए, आज़ादी की बलि-वेदी पर खुद को कुरबान करते हुए, हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं व संपादकों ने भारत के राष्ट्रीय आंदोलनों में महान रचनात्मक भूमिका अदा की है ।

---

1. मतवाला, 13 मई, 1924, पृ. 4

पराधीन भारत की हिन्दी पत्रकारिता की मूल्यदृष्टि

स्वतंत्रता पूर्व भारत के राष्ट्रीय, जातीय एवं राजनीतिक आंदोलनों के साथ हिन्दी पत्रकारिता का अत्यंत दृढ़ संबंध रहा है । अतएव हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास भारत की राष्ट्रीय चेतना की उन्नति के इतिहास का एक पर्व है और दोनों की विकास भूमियाँ एक दूसरे से आबद्ध है । स्वतंत्रता आंदोलन के दौर की हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का चरम मूल्य आज़ादी था । इसलिए भारत की राजनीतिक मुक्ति और जातीय चेतना का उन्मेष उनके मुख्य ध्येय थे । अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने सत्ता के विरुद्ध व्यापक विद्रोह का आह्वान किया था । "राष्ट्रीय परंपरा के निर्वाह में जिस साधना, त्याग एवं संघर्ष को हिन्दी पत्रों ने अपनाया वह अतुलनीय है । आज के स्वाधीन भारत भवन की नींव में पड़नेवाले अनेक पत्थरों की तरह हिन्दी की राष्ट्रीय पत्रकारिता भी है ।"[1] अनेक इतिहासकारों ने इसका समर्थन किया है ।

युग बोध स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी पत्रकारिता का दूसरा मूल्य था । उसने तत्कालीन समाज में प्रचलित अमानवीय तत्वों, कुरीतियों, पाखंडों, धार्मिक अंधविश्वासों, धर्मोन्माद की प्रवृत्तियों एवं जातिवाद का विरोध किया है । भारतवासियों की एकता और अखंडता पर उनकी गहरी आस्था थी । उस समय के अनेक पत्र सांप्रदायिकता की आपत्ति से जागृत थे । वे धार्मिक सद्भाव के लिए जनता को सदा प्रेरित करते थे । गणेशशंकर विद्यार्थी का "प्रताप" इस दिशा में कई उल्लेखनीय कार्य किये हैं । गाँधीजी के "हरिजन" ने छुआछूत, सामाजिक अन्याय, जातिवाद जैसे दूषित आचरणों की आलोचना करने का जो क्रम आरंभ किया था उसको तद्युगीन पत्रों ने जारी

---

1. डॉ. गंगानारायण त्रिपाठी, हिन्दी पत्रकारिता और गद्यशैली का विकास, 1997 पृ. 61

रखा है । इस तरह भारतीय समाज का पुनर्गठन और सांस्कृतिक सुधार परतंत्र भारत की हिन्दी पत्रकारिता के महान मूल्य थे ।

हिन्दी पत्रकारिता के प्रति अंग्रेज़ नीति कभी उदारवादी नहीं थी । इसलिए अंगेज़ों के समय ऐसे कम पत्र प्रकाशित हुए थे जो दीर्घजीवि थे । देशी पत्रकारिता को झकझोर करने के लिए अंग्रेज़ों ने कई कुत्सित कानून बनाये थे । सन् 1867 का रेगुलेशन आफ प्रिंटिंग प्रेस एण्ड न्यूज़पेपर्स एक्ट, 1878 का गैंगिग प्रेस एक्ट, 1898 का वर्नाकुलर प्रेस एक्ट आदि ऐसे कुछ नियम थे जो पत्रकारों को दबाने तथा दमन करने के लिए बनाये गये थे । लेकिन पत्रकारिता की स्वाधीनेच्छा को रोक देने में वे असफल ही रहे । अंग्रेज़ी सत्ता के अनगिनत अत्याचारों के बावजूद स्वाधीनता की सक्रिय समर्थक हिन्दी पत्रकारिता को, पराधीन भारत के कर्मठ व निष्ठावान पत्रकारों ने जन-जागृति के सफल माध्यम के रूप में अपनाया था । वे आत्मदान के महान प्रतीक थे । गुलामी की श्रृंखला से भारतीय आत्मा को मुक्त करने के साथ ही भारतीयों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक बोध को प्रदीप्त करना भी तत्कालीन पत्रकारिता का लक्ष्य था । इस प्रकार पराधीन भारत की हिन्दी पत्रकारिता, पत्रकारिता की महती आदर्शवादिता और मूल्य-विचार की सार्थक प्रतिमान निकलती है ।

---

1. शिवकुमार दुबे, हिन्दी पत्रकारिता इतिहास एवं स्वरूप, 1992, पृ. 37

द्वितीय अध्याय

पत्रकारिता और लघुपत्रिका

पत्रकारिता - एक सांस्कृतिक कार्य

संप्रेषण के सशक्त सांस्कृतिक साधन के रूप में पत्रकारिता का महत्त्व है । संसार-भर की विविध भाषाओं में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की प्रवर्द्धमान संख्या और प्रचार उसकी प्रासंगिकता का प्रमाण है । वह प्रत्येक युग की सांस्कृतिक धारा की गवाही है । पत्रकारिता केवल दैनिक कार्यक्रमों के संकलन और आकलन में तृप्ति महसूस नहीं करती, बल्कि उसमें घटनाओं के विश्लेषण की प्रतिबद्ध प्रवृत्ति विद्यमान है ।

पत्रकारिता के इतिहास का अनुशीलन साक्ष्य है कि उसका उदय और उत्कर्ष उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों के हेतु हुआ है । वह मूल्यों के लिए परिकल्पित होती है और मूल्य स्थापन के लिए निष्ठामग्न होती है । मुख्यत: पत्रकारिता के चार दायित्व हैं - राजनीतिक दायित्व, सूचना प्रदान का दायित्व, शैक्षणिक दायित्व और सामाजिक दायित्व ।[1] इनके आधार पर पत्रकारिता के सांस्कृतिक दायित्व की अवधारणा की जाती है । उसका प्रभाव मनुष्य के दैनिक जीवन के सभी पहलुओं पर बना रहता है । यों मनुष्य के संस्कृतिकरण का मुख्य उपादेय के रूप में पत्रकारिता को लिया जाता है । संस्कृतिकरण की हरेक स्थिति और उसका हरेक रूप उससे लाभान्वित है । उसके द्वारा सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराएँ एक पीढी से दूसरी पीढी तक पहुँच जाती है ।

पत्रकारिता समकालीन समाज की कृति और विकृति के विभिन्न दृश्य पाठक के सामने प्रस्तुत करती है । समूची दुनिया के जनजागरण और नवचेतना

---

1. Deni Elliot(Editor) RESPONSIBLE JOURNALISM, (Quoted from 'Defining Press Responsibility'- Louis H.Hodges), 1986,

का इतिहास साक्ष्य है कि सांस्कृतिक उत्कर्ष में सहायक विभिन्न तत्वों में पत्रकारिता ने अपनी ऐतिहासिक भूमिका का निर्माण किया है । वह वर्तमान की व्याख्या और भविष्य की सृष्टि भी है । मनुष्य के सांस्कृतिक संबंधों को रेशे-रेशे को उजागर करने की क्षमता उसमें है ।

आज पत्रकारिता अपने उत्कर्ष की चरम स्थिति में है । उनको कार्य भूमि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से लेकर एक मामूली नागरिक के जीवन तक फैला हुआ है । वैषयिक विविधता उसकी एक प्रमुख खूबी है और आज प्रस्तुति के आधार पर उसके कई रूप मिलते हैं जिससे पाठक रुचि का परिष्कार हुआ है ।

समाज के विकास के साथ-साथ सामाजिक क्रिया-कलापों का विस्तार होता है । जीवन के कई क्षेत्रों के खुलने के साथ पत्रकारिता का विकास भी होता है । अर्थात् उसका दायित्व निर्वहण का भार बढता है । पत्रकारिता के सांस्कृतिक दायित्व किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं है । वह खुद विकास पाती है और अपने कार्य को विपुल करती है । अतः पत्रकारिता के क्षेत्र आज इतना विस्तृत है कि उसमें सब कुछ समा जाते हैं । इस प्रकार पत्रकारिता आज अन्य क्षेत्रों में अपने को जोडकर वास्तव में अपना अंतरंग और बर्हिरंग विस्तार कर रही है । यह दर असल उसके सांस्कृतिक दायित्व-निर्वहण के ही पहलु हैं । रेडियो-दूरदर्शन पत्रकारिता, विज्ञान पत्रकारिता, खेल पत्रकारिता, फिल्म पत्रकारिता, उद्योग-व्यवसाय विषयक पत्रकारिता, ग्रामीण पत्रकारिता आदि पत्रकारिता के विभिन्न कार्य क्षेत्र है । अन्वेषी पत्रकारिता, अनुसंधान पत्रकारिता, वृत्तांत पत्रकारिता, संदर्भ पत्रकारिता आदि उसके विकास की

दिशाएँ हैं । पत्रकारिता के इन विभिन्न कार्यक्षेत्रों व दिशाओं में साहित्यिक पत्रकारिता का अपना अलग महत्व है ।

साहित्यिक पत्रकारिता

साहित्यिक पत्रकारिता, पत्रकारिता का एक रचनात्मक रूप है । साहित्यिक पत्रकारिता के दो रूप होते हैं -व्यावहारिक और सांस्कृतिक । व्यावहारिक रूप के अन्तर्गत साहित्यिक पत्रों का संपादन, साहित्यिक वार्ताओं व सूचनाओं का संकलन और प्रचार, रचनाकारों से साक्षात्कार, साहित्यिक टिप्पणियों का प्रस्तुतीकरण, पुस्तक-समीक्षा आदि आते हैं । उनसे भिन्न साहित्यिक पत्रकारिता के कुछ विशेष सांस्कृतिक उद्देश्य भी होते हैं । उनमें नयी साहित्यिक संवेदनाओं का संप्रेषण और नयी पाठकीय रुचि का सृजन प्रमुख हैं ।

साहित्यिक पत्रकारिता में साहित्य और पत्रकारिता के रचनात्मक अंशों का मेल-मिलाप होता है । उसमें दोनों के उच्च आदर्श भी उपलब्ध हैं । पत्रकार और साहित्यकार की तुलना करते हुए कहा जाता है - "पत्रकार के लिए यथार्थ वही है जो संभव हो चुका हो, साहित्यकार के लिए वह है जो संभव हो सकता है ।"[1] इस दृष्टि से साहित्यिक पत्रकारिता में एक साथ अतीत और भविष्य की चिंता और विचार मौजूद हैं । पत्रकारिता और साहित्य का फर्क यह है कि "पत्रकारिता व्यक्ति के अन्तर्मन को उतनी गहराई तक जाकर स्पर्श नहीं कर सकती जितना साहित्य कर सकता है ।

---

1. रघुवीर सहाय, न लिखने का कारण, 1978, पृ. 103

पत्रकारिता तत्कालिक प्रभाव ही छोड जाती है जबकि साहित्य दीर्घ-जीवि प्रभाव छोडता है ।"[1] इस दृष्टि से साहित्यिक पत्रकारिता के दो गुण सामने आते हैं - प्रभावात्मकता और स्थायित्व ।

साहित्यिक पत्रकारिता का लक्षण निरूपित करते हुए विद्वानों ने "साहित्य के मूल्यों की चिंता तथा समाज के संरक्षण के मूल्यों की चिंता और चर्चा करने वाली पत्रकारिता ही साहित्यिक पत्रकारिता कहा है ।"[2] यह प्रस्ताव साहित्यिक पत्रकारिता के सॉस्कृतिक गौरव पर प्रकाश डालता है । दरअसल साहित्यिक पत्रकारिता के लक्ष्य अनेक आयामी हैं । वह साहित्य में एक नये क्रम का परिचय दिलाती है । वह रचनाशीलता को दिशा देती है और नये हस्ताक्षरों को प्रोत्साहित करती है । साहित्येतिहास लेखन में साहित्यिक पत्रकारिता का भारी योगदान रहता है । वह चिंतन और अभिव्यक्ति के ताज़ापन को सुरक्षित रखती है । साहित्यिक पत्रकारिता की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह एक नयी भाषा का सृजन करती है जिसमें परंपरा और समसामयिकता के कई तत्व जुड जाते हैं । अपनी संपूर्णता में साहित्यिक पत्रकारिता वह सेतु है जो जनता को साहित्य की ओर ले जाती है । लघुपत्रिका की इसी संदर्भ में प्रासंगिकता है ।

लघु पत्रिका नामकरण के विवाद और यथार्थ

सांप्रतिक परिदृश्य में तमाम साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्रवाईयों का अभिन्न अंग है लघु पत्रिका जो आज एक आशातीत व

---

1. बच्चन सिंह, पत्रकारिता के नये प्रतिमान, 1989, पृ. 103-104
2. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, "साहित्यिक पत्रकारिता अस्तित्व का संकट" से उद्धृत, भाषा, जुलाई-अगस्त, 1992, पृ. 18

आंदोलनात्मक वेग हासिल कर रही है । लघु पत्रिका के स्वरूप को लेकर देश के विविध कोनों में जो परिचर्चाएँ चलती आती हैं उनमें लघुपत्रिका के नामकरण की सार्थकता के प्रश्न भी पर्याप्त ज़ोर पकडा है । हिन्दी के कुछ विद्वान व लेखक लघुपत्रिका से "लघु" शब्द को हटाने के पक्ष में हैं । उनके अनुसार "लघु" शब्द का प्रयोग पत्रिका के साथ अब न जोडा जाए । क्योंकि कोई भी पत्रिका जिसका अभीष्ट महान हो जिसका ध्येय पाठकों तक सार्थक-साहित्य पहुँचाना हो, लघु नहीं रह जाती ।"[1] लघु शब्द को लघु पत्रिका से अलग करने का न्याय कुछ ने यों व्यक्त किया है कि वह मूलत: साहित्यिक पत्रिका ही है । इसलिए उसे साहित्यिक पत्रिका ही कहना उचित है ।[2] दूसरी तरफ़ लघु शब्द से लघुपत्रिका की अन्तर्वस्तु के संबंध में भ्रम उत्पन्न होने की शंका प्रकट की गयी है । क्योंकि प्राय: नामकरण की वैज्ञानिक और ऐतिहासिक परंपरा यह रही है कि नामकरण हमेशा अन्तर्वस्तु के आधार पर किये जाते हैं ।"[3] इस दृष्टि से लघु शब्द लघु पत्रिका की अन्तर्वस्तु के गौरव को कम कर देता है । दरअसल लघुपत्रिका का उद्देश्य कभी सीमित या नगण्य नहीं होता । तो भी छोटी या लघु शब्द से तुच्छ का संकेत होता है जबकि बडी से उदात्त, महान का । उसकी लोकधर्मी चेतना अत्यधिक प्रखर है । इसके आधार पर लघुपत्रिका को "लोक पत्रिका" की संज्ञा से बुला लेने को उचित एवं सार्थक कहा गया है ।[4] यों लघुपत्रिका से संबंधित संवादों में बडे उत्साह सहित इस विषय को लिया गया है ।

---

1. भीष्म साहनी, बुलेटिन-3, राष्ट्रीय लघुपत्रिका समन्वय समिति का प्रकाशन, अगस्त 1994, पृ. 10.
2. रमेश उपाध्याय, एक जुटता और साझे अभियान की नयी मंजिलें -रपट, उद्धृत, दस्तक, अक्तूबर 1994, पृ. 56.
3. कमेन्दुशिशिर, लघुपत्रिकाएँ कुछ सच्चाइयाँ, अन्तर्राष्ट्रीय सोता समाचार, अक्तूबर 1993, पृ. 6.
4. शंभुबादल, लघुपत्रिका अनुभव और समस्याएँ, आम आदमी, जनवरी-मार्च, 1995, पृ. 8.

कुछ ऐसे रचनाकार हैं जो लघुपत्रिका के "लघु" शब्द के समर्थक हैं जो लघुपत्रिका से "लघु" शब्द हटाने में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ देखते हैं । उनकी राय में लघु शब्द के प्रयोग को जारी रखना लघुपत्रिकाओं की एक प्राथमिक अपेक्षा है । क्योंकि लघु पत्रिका का संघर्ष जो पहले बड़ी व्यावसायिक पत्रिकाओं के खिलाफ था आज बड़े संचार माध्यमों या इलक्ट्रोनिक मीडिया के खिलाफ हैं । "उनके सामने लघुपत्रिका के प्रयास लघु ही हैं और लघुपत्रिका कहने से आंदोलन का बोध भी होता है ।"[1] यही उनके विचार की आधार शिला है ।

इन विवादों के रहते हुए भी कहा जा सकता है कि लघुपत्रिका का "लघु" शब्द उसके बुनियादी दायित्वों का दिशा-निर्देशक कदापि नहीं । वह लघुपत्रिका के सरोकार के मापतौल का आधार नहीं । वह वैचारिक अस्पष्टता या अभाव का सूचक भी नहीं ।[2] मूलत: लघु शब्द लघुपत्रिका की सांस्कृतिक प्रतिबद्धता की अस्मिता की केन्द्रीय मुद्रा है । लघुपत्रिका के साधन, शायद लघु हो सकते है, पर लक्ष्य ज़रूर महान हैं । उसका विद्रोह व अभियान संस्कृति को दूषित करनेवाले बड़े बड़े पत्र घरानों, संस्थाओं व प्रतिष्ठाओं के विरुद्ध है । प्रस्तुत विद्रोह व अभियान किसी देश या काल की विशेषता नहीं । वह समाज और संस्कृति के प्रति निष्ठावान मनीषियों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जो साहित्य के क्षेत्र में -"लिटिल मैगज़िन मूव्मेंट" से जाना जाता है । मोटे तौर पर "लघु" शब्द लघुपत्रिका को एक ऐसी पहचान देता है कि वह भी स्वयं उस मूव्मेंट का एक हिस्सा है जिसका आदर्श हैं," एक योद्धा गिरता है तो दूसरा आता है ।"[3] आजकल इस मन्तव्य ने काफ़ी ज़ोर पकड़ा है ।

---

1. शंभुनाथ, एक जुटता और साझे अभियान की नयी मंजिलें - रपट, उद्धृत, दस्तक, अक्तूबर 1994, पृ. 56
2. राम विलास शर्मा, पत्रांश, बुलेटिन-4, लघुपत्रिका समन्वय समिति का प्रकाशन, अगस्त 1993, पृ. 2
3. ज्ञानरंजन, लघुपत्रिकाएँ नई चुनौतियाँ और नई दिशाएँ, गीतांजलि सरोवर, प्रवेशांक, 31 अक्तूबर 1992, पृ. 5

लघुपत्रिका स्वरूप एवं संवेदना की तलाश

लघुपत्रिका का कार्य सामान्य रूप से गैर-व्यावसायिक, प्रगतिशील और प्रयोगधर्मी होता है । लघुपत्रिका का प्रकाशन किसी बुद्धिजीवि या बुद्धिजीवि वर्ग द्वारा संभव होता है । उसका गठन व्यक्तिगत या सामूहिक हो सकता है । यद्यपि लघुपत्रिका अपने आकार व आयु में छोटी और प्रचार में सीमित रहती है तो भी वह सरोकार, प्रतिबद्धता एवं सौन्दर्य संबंधी लोकप्रिय परिकल्पनाओं का उल्लंघन करती है । इस अर्थ में लघुपत्रिका एक विद्रोह है । सांस्कृतिक नवोन्मेष के सृजन तथा संप्रेषण की दिशा में उसकी गहरी भूमिका है । वह जीवन-स्थितियों और आकांक्षाओं के अंतराल को पाटने का सफल कार्य कर सकती है ।

लघुपत्रिका के स्वरूप का निर्धारण अलग अलग कोणों एवं दृष्टियों से करते आ रहे हैं । किन्तु उनमें अधिकांश निष्कर्ष इसलिए अधूरे हैं कि वे सहज वैयक्तिक व एकआयामी प्रतिक्रिया बने रहते हैं । उनमें रचनाकारों की निजी अभिरुचि और पक्षधरता की झाँकियाँ प्राप्त होती हैं । फिर भी वे लघुपत्रिका के स्वरूप को, अपनी संपूर्णता में उभारने के प्रयास ज़रूर रहे हैं । लघुपत्रिका की स्वरूप विषयक कुछ प्रमुख व्याख्याएँ इस तरह हैं जो उसके अंदरूनी सत्य के उद्घाटन में उपयोगी सिद्ध होती हैं ।

"लघुपत्रिका एक मुहावरा है जिसका प्रयोग गैर व्यवसायिक पत्रिकाओं को प्रतिपादित करने के लिए किया जाता है ।"[1]

---

1. 'Little Magazine is a phrase used to describe Periodical of non-commercial publishers.'
THE ENCYCLOPEDIA AMERICANA, Volume 17, 1974, P.599

"विभिन्न छोटी-सी पत्रिकाओं में ऐसी कोई भी पत्रिका जो गौरवशील रचनाओं के लिए, विशेष कर "अवाँ-गार्द" एवं अव्यावसायिक रचनाओं के लिए समर्पित होती है, लघुपत्रिका है ।"[1]

"एक छोटी-सी अव्यावसायिक पत्रिका जो विशेषकर प्रयोगशील रचना तथा आलोचना प्रकाशित करते है, लघुपत्रिका है ।"[2]

"लघुपत्रिकाएँ विशुद्ध साहित्यिक और प्रचार प्रधान होती हैं । वे न बडे घरानों से जुडी जाती हैं, न राजशक्ति से ।"[3]

"कुछ दशक पहले तक जो पत्रिकाएँ साहित्यिक कहलाती थीं, वे ही अपना रूप बदलकर "लघु" कहलाने लगी हैं ।"[4]

---

1. 'Little Magazine any of various small periodicals devoted to serious literary writings, usually avant-grade and non-commercial .'
   THE NEW, ENCYCLOPAEDIA BRITANICA, Volume 7, 1985, P.404
2. 'A small non-commercial magazine, publishing esp. experimental writing and criticism.'
   LAROUSSE ILLUSTRATED INTERNATIONAL ENCYCLOPAEDIA AND DICTIONARY, 1972, P.514.
3. विष्णु प्रभाकर, शोषण के विरुद्ध युद्ध की घोषणा - साक्षात्कार, युगस्पन्दन, जनवरी-फरवरी - मार्च 1989, पृ. 2
4. राकेश वत्स, लघुपत्रिकाओं की भूमिका, समन्वय, मई 1994, पृ. 9

"सरकारी और व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं के समानांतर सीमित संसाधनों से निकलने वाली साहित्यिक पत्रिका लघुपत्रिका है ।"[1]

"ऐसी पत्रिकाएँ जिनके संपादक को काम करने के कारण पारिश्रमिक नहीं मिलता । इनके पाठकों की संख्या सीमित होती है और इन्हें छापने का उद्देश्य धन लाभ नहीं होता ।"[2]

इन विचारों का विश्लेषण करते हुए कुछ खास मुद्दे यों नज़र आते हैं । वस्तुत: लघुपत्रिका साहित्यिक पत्रिका का ही एक विशिष्ट रूप है । वह साहित्य के प्रति काफी गौरवशील होती है । वह साहित्य के भीतरी प्रवाह की सही पहचान कर सकती है जो प्राय: व्यावसायिक या प्रतिष्ठानी पत्रिकाओं के लिए असंभव कार्य है । सेठ और सत्ता के साथ उसका कोई रिश्ता नहीं रहता और उनके विरोध में ही लघुपत्रिका की अवधारणा हुई है । लघुपत्रिका के साधन अत्यधिक सीमित होते हैं । इसी वजह से उसका प्रचार भी सीमित है । उसमें प्रगतिशील विचारधारा का पर्याप्त महत्व है । प्रयोगशीलता के प्रति उसमें गहरी अनुरक्ति है । उसमें टूटती हुई परंपरा और उभरती हुई समसामयिकता के अनेक दृश्य मिलते हैं । इन सबको ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि लघुपत्रिका एक विशिष्ट साहित्यिक पत्रिका है जिसमें गैर व्यावसायिकता, उदात्त सृजन-शीलता, प्रगतिशीलता, प्रयोगशीलता, कलात्मक अभिरुचि, लोक चेतना और मूल्य बोध के कई तत्व मौजूद हैं ।

---

1. शंभुनाथ, लघुपत्रिका आंदोलन के नये आयाम, संवेद, जून 1993, पृ. 16
2. राजेश जोशी, साहित्य में केन्द्रीय भूमिका लघुपत्रिकाओं ने निभाई - साक्षात्कार, दैनिक नयी दुनिया, 17 फरवरी 1993, पृ. 5

लघु पत्रिका प्रादुर्भाव तथा विकास

विश्व भर में पत्रकारिता का उद्भव तथा उत्कर्ष विशाल मानवीय मूल्यों को लेकर हुआ है । वह वर्तमान युग का सबसे प्रभावशाली आविष्कार है । पत्रकारिता की एक मुख्य विधा है पत्रिका । पत्र और पत्रिका के बीच थोडा-सा अंतर किया गया है जो सामान्यत: उनकी प्रकाशन-अवधि के आधार पर है । प्राय: "पत्र" का तात्पर्य समाचार पत्र से है । लेकिन उससे भिन्न पत्रिका का तात्पर्य उन प्रकाशनों से किया जाता है जो नियत अवधि के पश्चात् नियमित रूप से प्रकाशित होते हैं और जनता में प्रसारित होते है ।[1] साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक, वार्षिक जैसे कई रूप पत्रिकाओं के होते हैं । अपने उषाकाल में अक्सर पत्रिकाएँ व्यक्तिगत प्रयासों की श्रेणी में रहती है । कुछ ही दिनों में बडे बडे पूँजीपति एवं उद्योगपति उसके क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं । उनके आगमन के मूलत: दो उद्देश्य हैं - धनार्जन और यशलिप्सा । वे पत्रकारिता को अन्य धन्धों की तरह एक कोरा व्यवसाय में परिवर्तित करते हैं ।

व्यावसायिक पत्रकारिता के समर्थकों की अपनी निजी साहित्यिक व सांस्कृतिक दृष्टि होती है । क्योंकि पिछले कई वर्षों से "प्रेस का कार्य ऐतिहासिक रूप से पूँजीवादी वर्ग के लिए निरंतर गहराई में जाकर बाज़ार का सर्वेक्षण प्रस्तुत करना रहा है, उपभोक्तावाद को विकसित करते हुए उसे अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने में सहयोग देना है और व्यापक जन समुदाय की मानसिक दासता को सुरक्षित करना है ।"[2] इन स्वार्थों की पूर्ति के

---

1. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पत्रिका संपादकला, 1977, पृ. 9
2. विनायक पुरोहित, भारतीय प्रेस - किसका औजार, वाम, अगस्त 1974, पृ. 31

लिए पूँजीपतियों ने पत्र के साथ पत्रिकाओं के भी मूल्यवान पृष्ठों का बड़ी मात्रा में दुरूपयोग किया है । आदर्शोन्मुखी एवं समष्टिवादी संपादक, पत्रकार तथा रचनाकार इस त्रासद हालत पर, सांस्कृतिक विडंबना पर अवसन्न हुए । घोर व्यावसायिकता वाद की कठोर जंजीरों में आबद्ध पत्रधर्मिता को मुक्ति दिलाने की और उसे रचनात्मक व सृजनात्मक कार्यक्रमों की ओर दिशांतरित करने की गहरी इच्छा उनमें उत्पन्न हुई । साथ ही उन्हें एक ऐसे साधन के अभाव का भी अनुभव हुआ जिसमें सत्ता एवं पूँजी के विरूद्ध जनमत को रूपायित करने की और समकालीन सृजनधर्मिता के यथार्थ का परिचय देने की अपार दक्षता हो । इसी परिप्रेक्ष्य में एक वैचारिक विद्रोह के रूप में साहित्य के क्षेत्र में लघुपत्रिका को अवधारणा हुई । इसकी वास्तविक शक्ति पैसा या पूँजी नहीं, बल्कि निष्ठा है ।[1] व्यावसायिक पत्रिकाओं की चकाचौंध के बीच भी वह साहित्य व संस्कृति के खद्योत को सुरक्षित रखने की आकांक्षा करती है ।

यों लघुपत्रिका वह प्रथम सांस्कृतिक-क्रांति है जो पत्रकारिता की भयावह व्यावसायिक प्रवृत्ति के खिलाफ चलायी जाती है । लघुपत्रिका में इस यथार्थ की पहचान है कि जहाँ व्यावसायिक पत्रिकाएँ गडे प्रतिष्ठानों द्वारा प्रकाशित होती हैं वहीं प्रकाशन के माध्यम से व्यापार उनका मुख्य प्रयोजन हो जाता है ।[2] वह अपने विकासशील दायरे में प्रतिबद्ध और समर्पित प्रयासों के ज़रिए, सृजन के मुक्ति-संघर्ष को जारी रखती है । इस तरह लघुपत्रिका आहिस्ता आहिस्ता एक आंदोलन का स्वरूप और गतिशीलता अर्जित करती है ।

---

1. डॉ. विजेन्द्रनारायण सिंह, संगोष्ठी रपट से उद्धृत, हंस, दिसंबर 1992, पृ. 69
2. डा. इन्दु जोशी, साहित्यिक पत्रिकाएँ अस्तित्व का संकट, भाषा, जुलाई-अगस्त 1992, पृ. 12.

लघुपत्रिका के अवतरण का एक सार्थक पक्ष यह है कि उसके आगमन के साथ ही समूची पत्रिकाएँ दो शीर्षकों में विभक्त होती हैं - व्यावसायिक पत्रिका और साहित्यिक लघुपत्रिका । वह ज़रूर एक गैर व्यावसायिक पहलू है । उसके प्रकाशन के पीछे एक मिशन है, जिसकी धुन में साहित्य कर्मी लगे हुए हैं ।[1] उसमें सदा इस बात की विशेष जागृति है कि व्यावसायिक उद्देश्यों से प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाओं में साहित्य व संस्कृति की चिंता प्राय: क्षीण होती है । समसामयिक संवेदना को प्रस्तुत करने की और पाठकीय रुचि को विकसित करने की कोई विशेष आशा उनमें नहीं बचती । आदर्श का सवाल उठाना, उसके संदर्भ में अप्रासंगिक राग टेरना है ।

व्यावसायिकतावाद, पत्रकारिता के सामने एक भयात्मक सवाल-सा खड़ा है । ऐतिहासिक दृष्टि से पत्रकारिता के एक प्रमुख संकट के रूप में भारतीय पूँजी को प्रस्तुत किया गया है ।[2] इस परिदृश्य में व्यावसायिकता विरोधी आंदोलन को लघुपत्रिका ने एक केन्द्रीय सांस्कृतिक दायित्व के रूप में देखा-परखा है । जटिल व्यावसायिक मोह का घोर विरोध करते हुए वह अर्थ का केन्द्रीकरण, अर्थ का प्रभुत्व, उपभोक्तावाद, पूँजीवाद, विज्ञापन की जादू सरीखी सांस्कृतिक भयंकरताओं का तेवर भी पाठक वर्ग के सामने साफ करती है और साहित्यिक पत्रकारिता को स्वतंत्रता पूर्व भारत के महान आदर्शों की स्मृति दिलाती है । यद्यपि आर्थिक दृष्टिकोण से लघुपत्रिकाएँ व्यावसायिक पत्रिकाओं पर कोई आघात नहीं पहुँचा सकती हैं फिर भी वैचारिक स्तर पर वे अवश्य गंभीर प्रभाव छोड़ने में सफल हो रही हैं । यह लघुपत्रिकाओं की एक महती रचनात्मक क्रिया है ।

---

1. रोहित, संपादक बनाम मित्र पत्रिकाएँ, लोकशासन, 18 जनवरी 1995, पृ. 8
2. राजकिशोर, पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य, 1993, पृ. 83

लघुपत्रिका इतिहास-लेखन का दौर

इतिहासवेत्ताओं के अनुसार लघुपत्रिकाओं (Little Magazines) का उत्थान उन्नीसवीं शती के मध्यदशक में, अमरीका में हुआ था जिनकी शाखाएँ, प्रथम विश्वयुद्ध की तुरंत बाद पूरे पश्चिम में फैलने लगीं । लघुपत्रिका के उदय की परिवेशगत विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए कहा गया है, विदेश में जहाँ साहित्य और कला का संस्थानीकरण हुआ, ऐसे देश में और ऐसे साहित्यों में प्रतिष्ठान के विरुद्ध लेखकों व कलाकारों में से उन लोगों ने - जो अपने को "हरावल दस्ता" समझते थे और जिसको फ्रेंच में "अवारं गार्ड" कहते थे - लघुपत्रिकाएँ निकालीं । आरंभिक दौर से ही उसकी दृष्टि विरोधी रही थी ।

डयल - एक सार्थक शुरूआत

कहा जाता है पश्चिमी देश की पहली लघु पत्रिका "डयल" (Dial)[2] है जिसके संपादक थे मारग्रेट फुलर और राल्फ वाल्दो एमेर्सन । अमरीका से सन् 1840 से 1844 तक "डयल" का प्रकाशन चलता रहा । इस छोटी-सी अवधि में अमरीका के सांस्कृतिक क्षेत्र में नयी चेतना उत्पन्न करने में "डयल" ने काफी सफलता पायी है । स्थगित होने के उपरांत सन् 1880 से 1916 तक एक पाक्षिक के रूप में शिकागो से और अनियतकालीन पत्रिका रूप में न्यूयोर्क से पुन: डयल का प्रकाशन होता रहा था । "डयल" का आरंभिक प्रकाशन इतना प्रभावोत्पादक था कि परवर्ती काल की तमाम लघुपत्रिकाएँ उससे लाभान्वित हुई थीं ।

---

1. रामस्वरूप द्विवेदी (सं), आलोचना और समकालीन रचना, (डा. नामवर सिंह के लेख "लघुपत्रिकाओं की भूमिका" से उद्धृत) 1988, पृ. 23
2. Charles Allen, Little Magazines, THE ENCYCLOPAEDIA AMERICANA, Part 17, 1974, P.599

"डयल" से प्रेरणा ग्रहण करते हुए सन् 1841 और 1912 के बीच योरोप, अमरीका, जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड में बड़ी संख्या में लघुपत्रिकाएँ निकलने लगी थीं । उनमें चापबुक { Chapbook }, मिल न्यूयोर्क { Mille New York }, सिवेन रिव्यू { Sewanne Review }, "द फिलिस्तीन" { The Philistine} आदि के नाम प्रमुख हैं । हेनरी जेम्स, जार्ज वाशिंग्टन केबिल, स्टीफन क्रेन, तामस बेइली अल्ड्रिक जैसे प्रतिष्ठित लेखकों की शुरु की रचनाएँ "चापबुक" के द्वारा प्रकाश में आयी थीं । इब्सन, मेटर लिंक, स्ट्रीन बर्ग जैसे विश्रुत विदेशी हस्ताक्षरों की महान कृतियों के अनुवाद "मिल न्यू योर्क" में व्यापक रूप से मुद्रित होते थे । विदेशी साहित्य का परिचय देने का क्रम इस पत्रिका ने आरंभ किया था जिसको अनेक भाषा की लघु पत्रिकाओं ने विकसित किया । विभिन्न भाषाओं के रचनाकारों के बीच स्वस्थ सांस्कृतिक संबंध को बनाये रखने में यह कार्य सहायक हुआ । फ्रांस में सन् 1880 और 1910 के अंतराल में अनगिनत लघुपत्रिकाएँ निकलने लगीं । फ्रांसीसी प्रतीकवाद का जन्म तथा विकास उन्हीं पत्रिकाओं के परिप्रेक्ष्य में हुआ था । प्रतीकवादी कवियों व आलोचकों ने इन्हीं के माध्यम से प्रतिष्ठा पायी थी ।[1] वे पत्रिकाएँ उनके विचारों की अभिव्यक्ति के मंच के काम में आयी थीं । प्रतीकवाद के अतिरिक्त, ब्रिटिश कला, नवोत्थान और अमरीका के यथार्थवाद का पोषण भी इस अवधि की लघुपत्रिकाओं का योगदान था ।

लघुपत्रिकाओं का स्वर्णयुग

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् पश्चिम देशों में लघुपत्रिका की परंपरा खूब पनपने लगी । अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन जैसी भाषाओं में लघुपत्रिका की

---

1. Charles Allen, Little Magazines, THE ENCYCLOPEDIA AMERICANA, Part 17, 1974, P.559

धारा काफी तीव्र हुई । इसलिए सन् 1910 से लेकर 1930 तक के कालखंड को स्वर्णयुग कहा गया ।[1] रोबर्ट फ्रोस्ट, मरियन मूर, वालस स्टीवन्स, विल्यं कारलोस, तॉमस वूल्फ आदि कुछ ऐसे लेखक हैं जो इस काल की लघुपत्रिकाओं के उत्पाद थे ।[2] हारियट मनरो की पोयट्री { Poetry }, एसरा पउंड की इगोइस्ट { Egoist }, उनके ही सहयोग से प्रकाशित ब्लास्ट { Blast } और टी.एस.इलियट की क्रैटीरियन { Criterian } के अलावा ट्रान्सलान्टिक रिव्यू { Translantic Review }, लिटिल रिव्यू { Little Review} नॉवल रिव्यू { Novelle Review}, लंदन-मैगज़िन { London Magazine} अदेर्स {Others } फ्यूजिटीव { Fugitive} आदि इस काल की कुछ चर्चित लघुपत्रिकाएँ थीं । पश्चिमी देश की आधुनिक कविता के शलाकापुरुष टी.एस.इलियट की बहुत-सी कविताएँ, "पोयट्री" में प्रकाशित होती थीं । पश्चिम देश में रबीन्द्रनाथ ठाकुर का परिचय पहली बार "पोयट्री" के माध्यम से हुआ । सन् 1912 में उनकी विश्रुत कविता "गीतांजली" के कुछ अंश पोयट्री में प्रकाशित हुए थे जिसके लिए उन्हें सन् 1913 का नाबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था ।[3] मोटे तौर पर इस युग की लघुपत्रिकाएँ, संख्या, स्तरीयता के आधार पर काफ़ी महत्वपूर्ण थीं । विशिष्ट साहित्यिक उद्देश्यों को लेकर उनका प्रकाशन किया गया था जिनकी पूर्ति में वे बहुत कुछ सफलता पायी हैं ।

---

1. Charles Allen, Little Magazines, THE ENCYCLOPEDIA AMERICANA, Part 17, 1974, P.599
2. Jacquelin Singh, The little Magazines, SPAN, May 1995, Volume XXXVI, P. 27.
3. Ibid.

वामपंथी विचारधारा की पहल

द्वितीय विश्वयुद्ध के आसपास अंतर्राष्ट्रीय राजनीति ने एक ऐतिहासिक करवट ले ली थी । उस दौर में दुनिया भर में वामपंथी विचार धारा का प्रचार होने लगा था । तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों एवं लघुपत्रिकाओं में उस चिंतन पद्धति का गहरा असर दिखाई देता था । बीसवीं शती के चौथे दशक में इंग्लैंड से प्रकाशित "लेफ्ट रिव्यू" (Left Review) और अमरीका से प्रकाशित "पार्टिसन रिव्यू" (Partisan Review) उस काल की ऐसी दो ओजस्वी लघु पत्रिकाएँ थीं जो वामपंथी राजनीतिक दर्शन से अत्यंत प्रेरित थीं ।[1] उनके अग्रलेख अत्यधिक विचारोत्तेजक, प्रखर और प्रभावात्मक थे । "लेफ्ट रिव्यू" और "पार्टिसान रिव्यू"से ऊर्जा और उन्मेष हासिल करती हुई अनेक लघुपत्रिकाएँ इंग्लैंड और अमरीका में प्रकाशित होती थीं जिनमें विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं शैक्षणिक संस्थाओं से प्रकाशित लघुपत्रिकाएँ भी शामिल थीं । उनमें साम्यवादी व समाजवादी साहित्यिक सामग्रियाँ बड़ी मात्रा में छपती थीं । उनके अतिरिक्त वस्तुवाद, यथार्थवाद और मानवतावाद के महान संदेशों के संप्रेषण में भी उनका सहयोग ज़रूर होता था ।

"सथेर्न रिव्यू" (Southern Review) और "एक्सेंट" (Accent) ऐसी दो मशहूर लघु पत्रिकाएँ थीं जो आलोच्य काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों से अलग खड़ी थी । उनकी सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत कम थी । "सथेर्न रिव्यू "और "एक्सेंट "की विशेषता यह थी कि पश्चिमी देश में न्यू क्रिटिज़िज्म की नींव उन्होंने डाली थी । "केनियन रिव्यू" (Kenyon Review) और "स्क्रूटिनी" (Scrutiny) इस समय की दो अन्य लघु

1.THE ENCYCLOPEDIA BRITANICA, Volume-7, 1985, P.404

पत्रिकाएँ थीं जिनके संपादक क्रमशः जॉन क्रोव रान्सम और एफ.आर.लेविस थे । आधुनिक साहित्य के विकास में इन दोनों पत्रिकाओं ने महती भूमिका अदा की है । उनमें साहित्य की परंपरावादी प्रवृत्तियों की कटु आलोचना होती थी ।

बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में आते ही पूरे पश्चिम देश में लघु पत्रिकाओं की धारा अबाध गति से प्रवाहित होने लगी है । कविता, कहानी, नाटक, आलोचना, राजनीति, दर्शन, फिल्म और चित्रकला के अतिरिक्त साहित्य के विभिन्न प्रवृत्तियों पर केन्द्रित अलग अलग लघुपत्रिकाएँ प्रकाश में आयीं । उनके द्वारा नयी संवेदना और सौंदर्य मूल्य की तलाश तीव्र हुई । उनकी सबसे बडी भूमिका यह है उन्होंने पूरे संसार की रचनाशीलता और साहित्यिक पत्रकारिता को सही दिशा निर्देशन दिया ।

हिन्दी की साहित्यिक लघु पत्रिकाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिन्दी में छोटी अव्यवसायिक साहित्यिक पत्रिका के लिए "लघुपत्रिका" शब्द का प्रयोग रूढ हो रहा है । उसके प्रभाव और प्रचार का क्षितिज लगातार विकसित हो रहा है । "लघुपत्रिका का प्रकाशन एक रचनाकार का आत्मोत्सर्ग, उनका समर्पण, संकल्प और सामाजिक सरोकार में जीने का अतिरिक्त उत्साह और पीडा है जो उसे अपनी निरंकुश आवश्यकताओं को भी दर किनार कर जीने का एक अतुल आनंद देती है ।"[1] हरेक लघुपत्रिका अपने युग की माँग की पूर्ति का वैयक्तिक या सामूहिक साधन होती है, चाहे वह शुद्ध साहित्यिक हो या सामाजिक ।

---

1. डॉ. गिरिजा शंकर मोदी, संपादकीय, आज की कविताएँ, सितंबर-अक्तूबर 1992, पृ. 1.

पश्चिमी देश में साहित्यिक पत्रिका ने जो बौद्धिक गतिशीलता अपनायी थी, उसकी प्रकट झलक अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी की लघुपत्रिकाओं पर भी पडी है । अतएव कुछ लेखकों ने हिन्दी की लघुपत्रिका को पश्चिमी "लिटिल मैगज़िन" मूव्मेंट से प्रभावित माना है ।[1] किन्तु इसका अर्थ कभी यह नहीं हो सकता है कि हिन्दी की समूची साहित्यिक लघु पत्रिकाएँ "लिटिल मैगज़िन" की अनुकृति हैं । क्योंकि हिन्दी की लघु-पत्रिकाओं की अवधारणा भारतीय परिवेश में हुई है और वे भारतीय चिंतन-पद्धति से प्रभावित हैं ।

अपनी संपूर्णता में हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं के इतिहास को दो खंडों में विभक्त कर सकते हैं -

1. पराधीनकालीन साहित्यिक पत्रिकाएँ (सन् 1867 से 1946 तक) और
2. स्वाधीनकालीन साहित्यिक पत्रिकाएँ (सन् 1947 से अब तक)

इनमें से स्वाधीनकालीन साहित्यिक पत्रिकाओं के लिए व्यवहृत शब्द है आधुनिक साहित्यिक पत्रिका या लघुपत्रिका । इस प्रकार सन् 1867 से लेकर 1946 तक की अवधि हिन्दी की लघु पत्रिकाओं की पृष्ठभूमि है । उसके मुख्यत: तीन चरण होते हैं -"कविवचन सुधा", "सरस्वती" और "हंस" । यद्यपि ये साहित्यिक पत्रिकाएँ राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टि से तीन अलग-अलग युगों का प्रतिनिधित्व करती हैं तो भी हिन्दी की लघु साहित्यिक पत्रकारिता के विकास-क्रम का जीवन्त परिचय इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से प्राप्त होता है ।

हिन्दी की लघु पत्रिकाओं का एक मौलिक पक्ष है जो उनका

---

1. भारत यायावर, "संगोष्ठी रपट" से उद्धृत, युगस्पंदन, जुलाई-अगस्त-सितंबर 1992, पृ. 22

साहित्यिक पक्ष है । बडे-बडे अकादमिक विद्वानों द्वारा बनाये साहित्यिक इतिहासों में उनकी उचित समीक्षा या मूल्यांकन नहीं मिल पाता । वस्तुत: हिन्दी की लघुपत्रिका का आरंभ साहित्यिक पत्रिका के रूप में हुआ है । उसका व्यवस्थित इतिहास भारतेन्दु युग से शुरू होता है ।[1] इस दृष्टि से देखें तो हिन्दी की पहली लघुपत्रिका कहने योग्य पत्रिका सन् 1868 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के संपादन में प्रकाशित "कविवचनसुधा" है । भारतेन्दु ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से "कविवचनसुधा" को निकाला था । वहीं से हिन्दी में लघुपत्रिका आंदोलन का स्रोत फूट पडता है, कभी मंद गति में और कभी तेज ।

"कविवचनसुधा" अपने समय या परिवेश की समानांतर यात्रा थी । वह अपने समाज और संस्कृति से जुडी हुई थी । यद्यपि वह एक साहित्यिक व राजनीतिक पत्रिका थी फिर भी उसकी भूमिका और प्रभाव अखबार से कम नहीं था । उसमें प्रकाशित सामग्रियों में अपने काल की आस्था-अनास्था, आशा-निराशा और दुख-हर्ष के विभिन्न संदर्भ उपलब्ध होते थे । उसमें तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना अत्यंत प्रकट होती थी । क्योंकि उस समय भारत में ब्रिटिश सत्ता की राज चल रही थी । उसकी सहज प्रतिक्रिया के कई चित्र "कविवचनसुधा" में प्राप्त थे ।

सन् 1857 की प्रथम राष्ट्रीय क्रांति की करुण त्रासदी के उपरांत जन साधारण के मन में राष्ट्रीय मुक्ति का जो मुग्ध स्वप्न जागृत हुए थे उसने "कविवचनसुधा" में अभिव्यक्ति पा ली थी । ग्राहकों की कमी, सत्ता की उपेक्षा और तकनीकी ज्ञान के अभाव में भी उसने भावी पीढी के लिए

---

1. परमानंद श्रीवास्तव, लघुपत्रिकाओं का आंदोलन, समकालीन सृजन, जनवरी-दिसंबर 1990, पृ. 179

एक गौरव पूर्ण सांस्कृतिक अध्याय रचने का काम जारी रखा । एक ओर वह तत्कालीन सामाजिक उन्नायकों के नवजागरण संदेशों से प्रभावित हुई थी तो दूसरी ओर "उसने नवजागरण को त्वरा और ऊर्जा दी ।"[1] अपनी राष्ट्रीयता जातीयता एवं संकटों में घिर जाने के बाद भी न टूटनेवाली आस्था ने "कविवचनसुधा" को हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में एक प्रमुख स्थान दिया है ।

बीसवीं शती के आरंभिक दो दशक राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत गौरवपूर्ण माने जाते हैं । "सरस्वती" का जन्म इसी परिवेश में हुआ था । "सरस्वती" द्विवेदी युगीन साहित्य की केन्द्रीय धुरी थी । महावीर प्रसाद द्विवेदी उसके संपादक थे । तत्कालीन रचनाशीलता के स्वरूप व कार्यरूप निश्चित करने में "सरस्वती" का उल्लेखनीय योगदान रहा था ।

"सरस्वती" ज्ञान की पत्रिका थी । उसका रचना संसार केवल साहित्य तक सीमित नहीं था । "सरस्वती" में भूगोल, इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान जैसे विषयों पर भी काफी सामग्रियाँ छपती थीं । हिन्दी गद्यशैली और भाषा के विकास में "सरस्वती" थोडी बहुत सक्रिय थी । उसने पूर्ववर्ती काव्य भाषा की आलोचना करते हुए एक नयी काव्य भाषा की आवश्यकता पर बल दिया था । खडी बोली को उसने एक परिमार्जित साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया । सस्ती श्रृंगारिकता, भगवत्भक्ति तथा अंग्रेज़ों की प्रशंसा के स्थान पर "सरस्वंती" ने मानवता और देश प्रेम की भावना को जागृत किया । हिन्दी में गद्य साहित्य की विभिन्न शैलियों का

---

1. बहादुर मिश्र, नवजागरण और लघुपत्रिका, संवेद, जून 1993, पृ. 25

उत्कर्ष "सरस्वती" द्वारा संभव हुआ है । समग्रता में "इसका उद्देश्य शिक्षित समाज के साहित्य विवेक और जन जीवन को समृद्ध करना, उसे देश-दशा से अवगत कराना, उसके मन में देशप्रेम और भाषा-लिपि प्रेम जागृत करना और कुल मिलाकर उसे सामाजिक जीवन में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रेरित करना था ।"[1] सरस्वती ने भारत-दुर्दशा पर दुःख प्रकट करते हुए, देशवासियों को आत्मोसर्ग और बलिदान का मार्ग दिखाया ।

यद्यपि द्विवेद्योत्तर समय राजनीतिक दृष्टि से गाँधीयुग और साहित्यिक दृष्टि से छायावादी युग थे फिर भी उस वेला में, साहित्य और संस्कृति के स्तर पर कई प्रगतिशील तत्व उपलब्ध होते थे । प्रेमचंद का "हंस" इसका प्रमाण है । हिन्दी में प्रगतिशील साहित्यिक पत्रकारिता का प्रारंभ "हंस" से होता है ।

प्रेमचंद ने "हंस" के माध्यम से एक ओर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की गति को तीव्र किया और दूसरी तरफ प्रगतिशील रचनाधर्मिता का पथ प्रशस्त किया । वह तत्कालीन रचनाकारों व बुद्धिजीवियों से राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर सार्थक बहस करने का उचित साधन था । वह जन संस्कृति और लोक संस्कृति की उन्नायक साहित्यिक पत्रिका थी । उसका यकीन था, "स्वराज्य का आंदोलन गरीबों का आंदोलन है ।"[2] उसने तत्काल में प्रचलित सत्ता व सामंती शोषण से पीडित आम जनता के पक्ष में खडे होकर समाजवादी व्यवस्था का स्वागत किया है । उसने परंपरा से

---

1. रामबक्ष, सरस्वती में संस्कृति - आलोचना, जुलाई-सितंबर 1977, पृ. 41
2. हंस, प्रवेशांक, 1930, संपादकीय पृष्ठ

प्राप्त योग्यता के बल पर हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में वह युग विधायक कार्य किया जो अब तक प्रकाशित मासिक पत्रों द्वारा संभव नहीं हुआ था ।[1] "हंस" अपने युग की एक उच्चस्तरीय पत्रिका थी । भारत की विविध भाषाओं के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं की अनूदित रचनाएँ भी उसमें बड़ी मात्रा में छपती थीं । हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य का पोषण और संवेदना का परिष्कार उसके बुनियादी उद्देश्यों में थे । "हंस" की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उसने साहित्य के आस्वाद और मूल्यांकन के लिए नये निकषों का निर्माण किया ।

आम तौर पर "कविवचनसुधा" (1868), "सरस्वती" (1900) और "हंस" (1930) पराधीन भारत की ऐसी तीन महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं जिन्होंने हिन्दी की समकालीन साहित्यिक लघुपत्रिकाओं की साहित्यिक व सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि तैयार की है । उनकी साहित्यिक एवं राजनीतिक दृष्टि, मूल्य विचार और सांस्कृतिक निष्ठा समान रही है । तत्कालीनता उनकी सामान्य प्रवृत्ति थी । स्वतंत्रता पूर्व भारत के राष्ट्रीय आंदोलनों एवं जनसंघर्षों का उन्होंने गहरा अनुभव किया है और जनमत को रूपायित करने में उन्होंने अपनी ऐतिहासिक व सांस्कृतिक भूमिका का यत्रतत्र निर्वहण किया है । "कविवचन - सुधा," "सरस्वती" और "हंस" ने साहित्यिक पत्रकारिता की दुनिया बदल दी है और उसके क्षितिजों को विकसित किया है । इस प्रकार तत्कालीन पत्रकारिता और रचनाशीलता उनसे काफी प्रभावित थी । उन्होंने अपने काल की साहित्यिक पत्रिकाओं का नेतृत्व ही नहीं वरन् परवर्ती युग की साहित्यिक लघुपत्रिकाओं का मार्ग दर्शन भी किया है । सत्ता के अपराजेय अधिनायकत्व का घोर

---

1. डा. रत्नाकर पाण्डेय, पत्रकारिता प्रेमचंद और हंस, 1988, पृ. 10।

विरोध उसकी एक मुख्य खूबी थी । "कविवचन सुधा," "सरस्वती" और "हंस" ने एक विशेष अर्थनीति, राजनीति और रणनीति अपनायी थी जो स्वातंत्र्योत्तर साहित्यिक लघु पत्रिकाओं के लिए एक स्वस्थ आदर्श थी । इसलिए प्राय: सभी इतिहास-लेखक समकालीन साहित्यिक लघुपत्रिकाओं को, "कविवचनसुधा", "सरस्वती" और "हंस" को महान परंपरा की सुदृढ और स्वाभाविक कडी मानते हैं ।

लघुपत्रिका सृजन का आधुनिक मंच

आधुनिकता साहित्य की एक विशेष स्थिति है जो सामान्यत: देश-काल निरपेक्ष होती है । प्रत्येक भाषा में आधुनिक साहित्य के इतिहास-लेखन का कार्य बहुत कुछ लघुपत्रिका द्वारा संपन्न होता है । क्योंकि बडी साहित्य व प्रतिष्ठानी पत्रिकाएँ अपनी संकुचित एवं पुरानी संवेदनाओं के हेतु आधुनिकता बोध को आत्मसात् करने में असमर्थ निकलती हैं । अतएव उनमें मुद्रित अधिकांश रचनाएँ पिछले दौर के साहित्यिक तथा सौंदर्य मूल्य का प्रतिनिधित्व करती हैं । इसका एक कारण यह बताया जा सकता है कि व्यावसायिक पत्रिकाओं के ज़्यादातर लेखक परंपरावाद, रूढीवाद और अभिजातवाद के हिमायती हैं । प्राय: वे नये सृजनात्मक अनुभवों, नयी जीवनानुभवों, नयी साहित्यिक अवधारणाओं से अनभिज्ञ रहते हैं । वहाँ लघुपत्रिका युग की इस विकराल स्थिति में, युगांतरकारी परिवर्तन का झंडा लेकर प्रविष्ट होती है ।

साहित्यिक लघुपत्रिकाओं के संपादक प्राय: स्वयं मेधावी सृजनधर्मी होते हैं । साहित्य और संस्कृति की आधुनिकतम प्रवृत्तियों के प्रति उनमें गहरी संवेदना निहित है । पश्चिमी देश के टी.एस.इलियट, एस्रापाउण्ड, हारियट मन्रो, एफ.आर,लेविस, जॉन ले मान, स्टीफन स्पेन्डर आदि कुछ

ऐसे उदीयमान संपादक हैं । हिन्दी में भारतेन्दु, निराला, प्रेमचंद, अज्ञेय, जगदीश गुप्त, नाहो, ज्ञानरंजन, केदारनाथ सिंह आदि इस परंपरा की दृढ़ कड़ियाँ हैं जिन्होंने अपनी साहित्यिक पत्रिकाओं में संवेदना, सृजनात्मकता, प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता की आधुनिक प्रवृत्तियों को अत्यंत प्रमुखता दी है । यहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । हिन्दी साहित्य के परिदृश्य में आधुनिक चेतना की चिनगारी पहली बार उनकी "कविवचनसुधा" में दिखाई देती है । वह उस ढंग की पहली पत्रिका थी जिसने एक नवीनतम साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पाठकीय दृष्टि को प्रदान किया है । अतएव अधिकतर विद्वान उसको हिन्दी की प्रथम लघुपत्रिका होने का गौरव देते हैं ।[1] "कविवचनसुधा" ने हिन्दी में साहित्यिक पत्रकारिता की जो आदर्शोन्मुखी दिशा दिखायी थी, उस पर सांप्रतिक साहित्यिक लघुपत्रिकाएँ पूरे उत्साह के साथ अग्रसर हो रही हैं ।

लघुपत्रिका नये योद्धाओं की प्रायोजिका

रचना के विस्तृत मंच पर बहुत से प्रतिभावान रचनाकारों का परिचय लघुपत्रिका द्वारा संभव हुआ है । देश-विदेश के अनेक विश्रुत लेखकों की प्रारंभिक रचनाएँ पहली बार लघुपत्रिकाओं ही छपी हैं । क्योंकि प्रतिष्ठित व्यावसायिक पत्रिकाएँ या संस्थानी पत्रिकाएँ प्राय: जाने माने लेखकों की तरफ उन्मुख होती हैं । साहित्य के नये हस्ताक्षरों के प्रति उनमें कोई सहानुभूति नहीं रहती । इस हालत में नये कलमधारियों का अंतिम आसरा लघुपत्रिका बन जाता है । यों "आज के अधिकाधिक परिचित युवा कवि-कहानीकार लघुपत्रिकाओं के माध्यम से ही सामने आए हैं ।"[2] वही उनकी प्रगतिशील व

---

1. शंभुनाथ, एक संयोजकीय प्रतिवेदन, बुलेटिन - एक, नवंबर 1992, पृ. 4
2. मोहन श्रोत्रिय, लघुपत्रिका आंदोलन ऐतिहासिक परिदृश्य, लोकशासन, 11 मई 1994, पृ. 3

प्रयोगशील अभिव्यक्ति का अकेला साधन निकलती है । इसका एक फायदा यह है कि लघुपत्रिका में हमेशा संवेदना और चिंतन-पद्धति के ताज़ापन का अनुभव होता है । मशहूर पश्चिमी कवि टी.एस.इलियट का परिचय "डयल" ने कराया है जो उस ज़माने की एक चर्चित लघुपत्रिका थी । साहित्य में सार्त्र, जॉर्ज आरवेल, ग्रहांग्रीन, मयकोवस्की, लैज़न तॉमस, सरीखे महान रचनाकारों का अवतारण जॉन ले मान के संपादन में प्रकाशित "पेन्गुिवन न्यू रैटिंग" और "न्यू रैटिंग एण्ड से रैटिंग के माध्यम से हुआ है ।[1] अमरीका के प्रतिष्ठित उपन्यासकारों, आलोचकों और कवियों में अस्सी प्रतिशत ऐसे हैं जिनकी सृजन-यात्रा का आरंभिक चरण लघुपत्रिका रही है ।[2] हिन्दी की नयी पीढ़ी के तमाम रचनाकार लघु पत्रिका द्वारा प्रकाश में आये हुए हैं । इतना ही नहीं, आजकल व्यावसायिकता के रंगीन जाल में फँस कर लघुपत्रिका की आलोचना करने वाले बहुत-से साहित्यकार ऐसे हैं जिनकी प्रतिष्ठा लघुपत्रिकाओं के माध्यम से हुई है ।

लघुपत्रिका प्रयोग के प्रति नवोन्मेष

प्रयोग की तरफ सम्मोहन प्रत्येक प्रतिभावान रचनाकार में होता है । साहित्य की समूची विधाओं के, चाहे वह कविता हो, कहानी हो, नाटक हो, उपन्यास हो या आलोचना हो, उत्कर्ष में प्रयोगशीलता का प्रमुख स्थान है । लघुपत्रिका के स्वरूप के तमाम व्याख्याकार इस बात पर सहमत हैं कि लघुपत्रिका लेखकों की प्रयोगशील मानसिकता की उपलब्धि है । सामान्यतया प्रयोगशील मानसिकता के मूल में दो प्रकार की - परंपरा के प्रति असंतोष की और आधुनिकता के प्रति अनुरक्ति की - ग्रन्थियाँ कार्यरत हैं ।

---

1. एम.गोविन्दन, एम.गोविन्दन के निबंध, 1986, पृ.61।

2. Jacquelin Singh, The little magazines, SPAN, Vol.XXXVI, May 1995, P.

टी.एस.इलियट की कविता "वैस्टलैंड" का उल्लेख इस अवसर पर किया जा सकता है जिसका प्रकाशन "डयल" नामक एक लघुपत्रिका में हुआ था । "वैस्टलैंड" उस ज़माने की ही नहीं हर ज़माने की एक बहु आयामी प्रयोगशील कविता है । उसका असर इतना व्यापक था कि मात्र अंग्रेज़ी में ही नहीं बल्कि संसार की सभी भाषाओं का काव्य-लेखन उससे अवश्य लाभान्वित है । अनेक भाषाओं की आधुनिक कविता का इतिहास "वैस्टलैंड" के प्रकाशन से शुरू होता है । उसमें वस्तु और प्रस्तुति के स्तर पर महान "प्रयोग" दर्शित होते हैं । उसी तरह हिन्दी में विद्रोही कवि निराला की "जुही की कली" का भी प्रकाशन एक छोटी, अव्यवसायिक साहित्यिक पत्रिका -"आदर्श" - में हुआ था ।[1] "जुही की कली" हिन्दी की पहली छन्दमुक्त कविता है जिसने तत्कालीन व परवर्ती युग के तमाम कवियों पर इतना अक्षुण्ण प्रभाव छोडा है कि आजकल ऐसे कोई नये कवि प्राप्त नहीं हैं जिनकी कविता छंद के दायरों में बंध है । समकालीन कविता के अग्रणी कवि धूमिल की बहुचर्चित कविता "मोचीराम" "आरंभ" नामक एक लघु पत्रिका में प्रकाशित हुई थी । यों लघुपत्रिकाओं में प्रयोगात्मकता की तलाश की जो प्रवृत्ति नज़र आती है वह मात्र कविता के स्तर पर सीमित नहीं है बल्कि कहानी, नाटक, आलोचना जैसे साहित्य की प्राय: सभी शाखाओं में फैली हुई है । गुलेरी का "उसने कहा था" एवं प्रेमचंद का "पंचपरमेश्वर", "सरस्वती" में छापे थे[2] और जैनेन्द्रकुमार की पहली कहानी "खेल" "विशाल भारत" में छपी थी । ये तीनों कहानियाँ हिन्दी कहानी-साहित्य के इतिहास के महती मोड हैं जो अपनी पूर्ववर्ती या तत्कालीन कहानियों से अनुभूति व अभिव्यक्ति की दृष्टि से काफी प्रयोगात्मक थीं । यहाँ ध्यान देने की बात है कि लघुपत्रिकाओं में प्रयोग या नवीनता की जो चिंता है वह रचना की अन्तर्वस्तु और मूलभूत सरोकार

---

1. डॉ. त्रिभुवन सिंह (सं), साहित्यिक निबंध, (डा. कृष्णबिहारी मिश्र के लेख "हिन्दी पत्रकारिता की साहित्यिक पृष्ठिका" से उद्धृत), 1977, पृ. 1062
2. रामस्वरूप द्विवेदी (सं), आलोचना और समकालीन रचना, (डा. नामवर सिंह के लेख "लघुपत्रिकाओं की भूमिका" से उद्धृत), 1988, पृ. 25.

से कटी हुई नहीं है । अपनी पत्रिका की विशेषता के विवेचन के संदर्भ में मलयालम की एक लघु पत्रिका-संपादक एम.गोविन्दन ने लघुपत्रिका की प्रयोगात्मकता की ओर संकेत करते हुए लघुपत्रिका को अंतत: एक प्रयोग कहा है जो व्यक्तिपरक सहयोग पर आधारित प्रयोग होता है । वह कथनी और करनी के विपरीतत्व के विरोध का प्रयोग है और लघु मानवों के सहयोग एवं प्रयासों के द्वारा महत्वपूर्ण बातों का सार्थक परिणाम निकालने की संभाव्यता का प्रयोग है ।[1] वह कृति की प्रभविष्णुता एवं प्रतिबद्धता से जुडे हुए असंख्य विचारों का स्वाभाविक चरण है ।

लघुपत्रिका साहित्य का जनतंत्र

व्यापक अर्थ में लघुपत्रिका का जन्म साहित्य की जनतांत्रिक आस्था की कोख से हुआ है । क्लासिकी साहित्य हर समय सामंती वर्ग के जीवन और क्रियाव्यापारों पर केन्द्रित होती है। आम जनता की अनुभूतियों व संवेदनाओं के साथ उसका कोई विशेष तालमेल नहीं रहता । उत्पीडित और उपेक्षित सर्वहारा के आत्मसंघर्ष की तडप उसमें सुनाई नहीं पडती और जातीय उन्मेष को जागृत करने की कोई दक्षता नहीं दिखाती । अतएव सामंती सभ्यता की पोषिका, बडे घरानों व संस्थाओं की पत्रिकाएँ व जनसंचार माध्यम जनता की लीक से दूर होती हैं । उनके लिए "जन-साहित्य" का प्रकाशन भी एक उपभोक्ता तंत्र है । साहित्य को इस करुण अवस्था से बचाने का और उसे जन मानस से जुडाने का ऐतिहासिक दायित्व लघुपत्रिका अपने ऊपर उठा लेती है । वह इसलिए है कि आम आदमी की वेदना के प्रस्तुतीकरण का माध्यम पारंपरिक साहित्यिक पत्रिका अथवा व्यावसायिक पत्रिकाएँ नहीं

---

1. एम.गोविन्दन, एम.गोविन्दन के निबंध, 1985, पृ.618

बन सकती थीं । क्योंकि इन पत्रिकाओं पर स्वामित्व का एकाधिकार तथा वर्चस्व बना हुआ था । इस समस्या को लघुपत्रिका प्रतिक्रियात्मक ढंग से पाठक वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत करती है । इन सबका नतीजा यह हुआ है कि साहित्य में जन सामान्य की समस्याओं को स्वर मिलने लगा और रचना में प्रतिबद्धता की प्रवृत्ति तीव्र होने लगी ।

अपने सीमित साधनों के बावजूद लघुपत्रिका जन चेतना को एक सृजनात्मक स्वरूप देती है । वह इस विवेक से प्रेरित है कि शब्द को केवल किताबों में बंद करके उसकी ऊर्जा का सदुपयोग नहीं हो सकता, सदुपयोग के लिए उसका जनता तक पहुँचना चाहिए ।[1] वह बुर्जआ और ज्यूडो बुद्धिजीवि वर्ग के विचार-मंडलों के दायरों में सीमित प्रतिष्ठानी पत्रिकाओं से अलग एक नयी लेखकीय दृष्टि का आविष्कार करती है और "संकीर्ण विचार धारा के विरुद्ध लोगों को गोलबन्द करने की भूमिका"[2] निभाती है । उसमें लोकचेतना और लोकचेतना के कई तत्व समाविष्ट हैं ।

लघुपत्रिका प्रतिबद्धता का नया व्याकरण

युग और परिवेश के अनुकूल सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएँ भी परिवर्तित होती हैं । पराधीन भारत और स्वाधीन भारत की समस्याएँ भिन्न हैं । यह भिन्नता साहित्यिक लघु पत्रिकाएँ भी दर्शाती हैं और वे प्रतिक्रिया के विभिन्न रणनीतियों को रचती हैं । पराधीन भारतीय समाज में कई प्रकार की विडंबनाएँ प्रचलित थीं । जैसेकि छुआछूत, जातिवाद,

---

1. राकेशवत्स, लघुपत्रिकाओं की भूमिका, समन्वय, मई 1994, पृ. 12
2. श्रीनारायण समीर, लघुपत्रिका सम्मेलन की रपट से उद्धृत, लोकशासन, अगस्त 1994, पृ. 3

सती-प्रथा, बाल-विवाह, शोषण आदि । इन सबसे बढकर साम्राज्यवाद की जटिल नीतियों से भारतवासी पीडित होते थे । स्वाधीनता पूर्व भारत की साहित्यिक (लघु) पत्रिकाओं में इन संकटों की बडी चिंता थी जो बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध तक काफी तीव्रता सहित जारी रही । उनके द्वारा रचना और आलोचना के माध्यम से, प्रतिरोध की लाखों कोशिशें की गयी थीं ।

बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में देश में अन्य अनेक समस्याएँ उभर आयी हैं जो पराधीन काल में प्रकट नहीं हो रही थीं । पराधीन काल में विदेशी सत्ता का जो शोषण होता था वह प्राय: प्रत्यक्ष था । यद्यपि स्वाधीन भारत में साम्राज्यवादी ताकतों के शोषण का कार्य थोडा अदृश्य हुआ है तो भी वह अपेक्षाकृत तीखा, मर्मभेदी और पीडाजनक है । पुराने हथियारों के स्थान पर विश्वबैंक, अन्तर्राष्ट्रीय, मुद्राकोष, गैट, डंकल जैसे नये तेजधार हथियारों का प्रयोग आरंभ हुआ है । बाज़ार की सभ्यता के प्रहार से मनुष्य एवं समाज के तमाम मूल्य-विचार व सांस्कृतिक बोध शिथिल हो रहे हैं । "देश की इन अत्यंत जटिल और भीषण आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक संकट की स्थिति में लघुपत्रिका की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो गई है ।"[1] यों प्रदूषण के इस परिवेश में वह लघुपत्रिका है जो राहत की सांस दे सकती है ।

दूसरी तरफ, उपनिवेशवाद, नया भूमंडलीकरण, धार्मिक उन्माद, उपभोक्तावाद, अराष्ट्रीयता, विघटन आदि संस्कृति की समसामयिक कुरूपताएँ हैं जिनसे संस्कृति के सामने बदहाली और अनिश्चतता की स्थिति

---

1. सव्यसाची, लघुपत्रिका दशा और दिशा, लोकशासन, 8 जून 1994, पृ. 6

पैदा हुई है । "कई कई चैनल के ऑडियो-वीडियो ने नई पीढी के मस्तिष्क को विस्तृत कर दिया है । वहाँ साहित्यिक (लघु) पत्रिकाओं के माध्यम से मौलिक रचना प्रक्रिया के लिए नये संदर्भों की खोज और प्रस्तुतीकरण, न सिर्फ देश काल समाज के लिए, बल्कि मौलिक रचना के अस्तित्व के लिए भी अनिवार्य है ।"[1] लघु पत्रिकाओं में बडी मात्रा में आयोजित संवाद और परिचर्चाएँ इस दिशा के गौरवमयी कदम हैं । वे पर्याप्त साहस के साथ विभिन्न स्तरों पर संकटों का सामना करते हुए, वैचारिक प्रति-आक्रमणों के उपायों का सृजनात्मक अन्वेषण करते हुए न केवल अपनी कार्रवाईयों को बनायी रखती हैं, बल्कि अपने युग के साहित्य के सामने प्रतिबद्धता की नयी परिभाषा प्रस्तुत करती हैं ।

लघुपत्रिका एक राजनीतिक दस्तावेज़

लघुपत्रिका की राजनीतिक भूमिका ज़्यादा प्रखर है । हरेक युग की लघुपत्रिका अपने युग विशेष की राजनीतिक कार्यक्रमों से अनुप्रेरित होती है और कुछ लघुपत्रिकाएँ ऐसी भी हैं जो समकालीन राजनीति को बहुत कुछ प्रभावित करती हैं । उनमें राजनीतिक एवं साहित्यिक सामग्रियों के संतुलन का निर्वहण होता है । इसके दो प्रमाण हैं पश्चिमी देश के "लेफ्ट रिव्यू" और "पार्टिसान रिव्यू" जिनमें वामपंथी विचारधारा का गंभीर असर दिखाई देता था । हिन्दी में "उत्तरार्द्ध", "वाम", "नया पथ", "कलम" आदि इस ढंग की पत्रिकाएँ है जिनमें तत्कालीन राजनीतिक अनुभवों की प्रत्यक्ष और सृजनात्मक अभिव्यक्ति हुई है । लघुपत्रिका के अधिकांश संपादक साहित्य को राजनीतिक प्रभाव से दूर रखने के नियमित प्रयास के विरोधी हैं । मौजूदा युग में मनुष्य के जीवन पर बढते राजनीतिक प्रभाव को देखकर, वे लघुपत्रिकाओं के द्वारा साहित्य और राजनीति के बीच सांस्कृतिक सह-अनुभव की जडें

---

1. स्वदेशी भारती, साहित्यिक पत्रिकाएँ अस्तित्व का संकट, भाषा, जुलाई-अगस्त 1992, पृ. 16.

लगाते हैं । उनमें यह पहचान है कि सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं का एक राजनीतिक पक्ष भी होता है और राजनीति सांस्कृतिक कार्यक्रमों का एक अंग है । अतएव समय समय पर विभिन्न राजनीतिक मामलों में अनेक लघुपत्रिकाओं ने संवाद आयोजित किये हैं । इतना ही नहीं समकालीन लघु पत्रिका के प्राय: सभी रचनाकार राजनीतिक संस्कार के गुणभोक्ता हैं । वे राजनीतिक अनुभवों को सामाजिक अनुभवों में परिवर्तित करते हैं जो समय की ज़रूरी हैं ।

हिन्दी में भारतेन्दु से लेकर विजयगुप्त तक के संपादकों ने राष्ट्रीयता और राजनीति को अवांछनीय तत्व नहीं माना है । पराधीन भारत की सामान्यतया सभी साहित्यिक (लघु) पत्रिकाएँ तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों से लाभान्वित थीं । उनकी चरम अभीप्सा राष्ट्र तथा राष्ट्र की समस्याओं का समाधान करना ही था ।[1] ये पत्रिकाएँ पूरी आस्था और निष्ठा के साथ जातीय चेतना को प्रतिबिंबित करते हुए आज़ादी की माँग उठाती थी । आज़ादी के बाद भारत में, विशेषकर साठोत्तरी कालखंड में अनेक राजनीतिक दलों व चिंतन पद्धतियों का उदय हुआ है जिनसे लघुपत्रिकाएँ काफी प्रेरित भी हैं । दर्शन और दृष्टिकोण के फर्क रहते हुए भी लघुपत्रिकाएँ विपुल सांस्कृतिक अनुभवों के संपर्क से, वे पाठक वर्ग में रचनात्मक राजनीतिक बोध पैदा करती हैं ।

लघुपत्रिका प्रयोजन के चरण

लघुपत्रिका रचना से जुडी हुई मूलभूत समस्याओं के सैद्धांतिक विवेचन के लिए एक उपयोगी साधन है । अतीत की सौंदर्यानुभूतियों की

---

1. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पत्रिका संपादन कला, 1977, पृ. 43

चुनौती देती हुई, वह नयी सौंदर्यानुभूतियों की प्रस्तुति करती है और पुराने साहित्यिक मूल्यों के स्थान पर नये साहित्यिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करती है । उसके द्वारा आस्वादन और मूल्यांकन के प्रतिमानों में अनेक परिवर्तन भी आते हैं और रचना की संस्कृति व सरोकार संबंधी नयी मान्यताएँ प्रचरित होती हैं । लघुपत्रिका में सदा एक नयी भाषा की अन्वेषणा होती है । वह अतीत की या पिछले दौर की भाषा और संरचना को समसामयिक जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति के लिए अनुचित एवं असमर्थ मानती है । यह तो मात्र सृजनात्मक निर्मितियों की समस्या नहीं, बल्कि विचार-प्रधान रचनाओं की भी है । इस प्रकार लघुपत्रिकाओं की भाषा में लोकचेतना, लोक संस्कार व लोक-साहित्य के कई तत्व निहित होते हैं । वह भाषा के पूँजीवाद के खिलाफ जनचेतना का संघर्ष है ।

लघुपत्रिका बहुत-से साहित्यिक विवादों के केन्द्र में खडी है जिनसे विभिन्न साहित्यिक आंदोलनों का विकास संभव हुआ है । लघुपत्रिका में आयोजित विवादों व संवादों की आधारभूत विशेषता उसकी प्रजातांत्रिकता है । लघुपत्रिकाओं का एक सबल पक्ष भी यह है कि "वे लेखक और लेखक, लेखक और संपादक तथा लेखक और पाठक के बीच संवाद की स्थिति पैदा करते हैं ।"[1] लघुपत्रिकाओं की विवादास्पद परिचर्चाओं में कालत्रयी को काफी प्रमुखता दी जाती है । अर्थात् इन चर्चाओं के केन्द्र में वर्तमान की जो परिकल्पना है उसमें अतीत एवं भविष्य की चिंता है । वस्तुत: ये वाद, विवाद और परिसंवाद साहित्य के मूल्य और सौंदर्य संबंधी भावी-अवधारणाओं के पुरोवाक् हैं ।

---

1. डा. धर्मेन्द्र गुप्त, संगोष्ठी रपट से उद्धृत, युगस्पंदन, जुलाई-अगस्त-सितंबर, 1992, पृ. 22

लघुपत्रिका साहित्यिक पत्रकारिता की चरम उपलब्धि है । उसकी विचार-भूमि पर्याप्त विस्तृत है । साहित्य के अतिरिक्त कला के विभिन्न रूपों का समावेश उसमें प्राप्त होता है । चित्रकला, फिल्मी कला संगीतकला जैसी कलाओं के साथ रचना का जो आत्मीयता पूर्ण संबंध है लघुपत्रिका में उसका दर्शन होता है । साहित्य के सौंदर्यमूल्य और आस्वादन मूल्य के रचनात्मक विकास में कला के अन्य रूपों का विशेष सहयोग रहा है । लघुपत्रिका रचना को अन्य सामाजिक कर्मों से भिन्न या कम महत्वपूर्ण नहीं मानती । इसलिए "लघुपत्रिकाओं के साथ पाठकीय रिश्ते का सवाल ज़्यादा अहम है ।"[1] लघुपत्रिका के लिए पाठक कभी कोई उपभोक्ता वर्ग नहीं, बल्कि सांस्कृतिक रचना के कर्मठ सहयोगी हैं । यों लघुपत्रिका की भूमिका और उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हुए कह सकते हैं कि दरअसल लघुपत्रिका एक बलि-गाथा है । जब कभी साहित्य की अवस्थाओं व अपेक्षाओं और मनुष्य जीवन की अवस्थाओं व अपेक्षाओं के बीच अथाह अंतराल की स्थिति पैदा होती है तो उसे पाटने का ऐतिहासिक कार्य वही करती है । वह पढने के संस्कार को बचाती हुई और साहित्य, सांस्कृति एवं मानव समाज की नयी चुनौतियों के खिलाफ लडाई लडती हुई खुद समर्पित हो जाती है ।

---

1. कमेन्दु शिशिर, लघुपत्रिकाएँ कुछ सच्चाईयाँ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रोता समाचार, अक्तूबर 1993, पृ. 6

तृतीय अध्याय

हिन्दी की साहित्यिक लघुपत्रिकाएँ - एक सर्वेक्षण

हिन्दी पत्रकारिता उत्थान-काण्ड

हिन्दी पत्रकारिता का उत्थान और उत्कर्ष प्रखर राजनीतिक एवं सामाजिक बोध से हुआ है । हिन्दी के आरंभिक संपादकों एवं पत्रकारों ने युगीन राजनीतिक तथा सामाजिक दायित्वों का निर्वहण करने का उचित प्रयत्न किया है । अतएव हिन्दी में प्राय: सन् 1826 से लेकर 1866 तक की अवधि की पत्र-पत्रिकाओं का मूल स्वर राजनीतिक और सामाजिक रहा । हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में साहित्यिक चेतना का प्रत्यक्ष प्रमाण सन् 1866 के बाद मिलता है । इसका अर्थ है कि हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता की पृष्ठभूमि को पूर्ववर्ती राजनीतिक तथा सामाजिक पत्रकारिता ने तैयार किया था । हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता उनका क्रमिक व सहज विकास है । तत्कालीन शासकीय वर्ग की आलोचना, जनता में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना का निर्माण और समग्रता में हिन्दी साहित्य का पोषण उनके लक्ष्य थे । उनके मूल में तद्युगीन सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं तथा सुधारचेताओं के जागरण-संदेश कार्यरत थे । सामान्यत: हिन्दी पत्रकारिता के उत्थान पर्व में पत्रकारिता के तीन प्रमुख पडाव दिखाई पड़ते हैं जिन्हें क्रमश: राजनीतिक व सामाजिक चेतना से ओतप्रोत पत्रकारिता, हिन्दी भाषा के विकास के लिए प्रतिबद्ध पत्रकारिता और सामान्य पत्रकारिता जैसे श्रेणीबद्ध कर लिया जा सकता ।

हिन्दी पत्रकारिता के उत्थान काण्ड के संदर्भ में राजनीतिक व सामाजिक चेतना का पहला परिचय "उदन्तमार्तण्ड" में उपलब्ध होता है । वह हिन्दी पत्रकारिता के आरंभिक दौर का एक प्रमुख पत्र था । 30 मई 1926 ई. में कलकत्ता से उसका प्रकाशन आरंभ हुआ था जिसके संपादक पं. युगल किशोर शुक्ल थे । "उदन्तमार्तण्ड" के प्रकाशन से पढे लिखे लोगों में

युगचेतना आयी और राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हुई ।"[1] असीम मुसीबतों को सहते हुए युगल किशोर शुक्ल ने करीब डेढ साल तक उसको निकालता रहा । 4 दिसंबर 1827 ई. में "उदन्तमार्तण्ड" बंद हो गया । उसके बंद हो जाने के कई हेतु बताये जाते हैं जिनमें सत्ता का कोप प्रमुख है ।

पत्रकारिता के क्षेत्र में "उदन्तमार्तण्ड" का प्रवेश एक ऐतिहासिक घटना है । वह प्रतिबद्ध पत्रकारिता का आदिम उदाहरण है । "भाषा और विचारों की दृष्टि से वह एक सुसंपादित पत्र था ।"[2] "उदन्तमार्तण्ड" का प्रकाशन और प्रसारण व्यापक सामाजिक उद्देश्यों को लेकर हुआ था । उसके प्रथम अंक में ही सूचित था -"उदन्तमार्तण्ड" अब पहले पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेतु जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंगरेजी और फारसी औ बंगले में जो समाचार का कागज़ छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने और पढने वाले को ही होता है । इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ औ समझ लेंय ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषा की उपज न छोडें इसलिए बडे दयावान करूणा और गुणनि के निधान सबके कल्याण के विषय गवर्नर जनरल बाहदुर की आलस से अैसे सहमतें में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा....."[3] "उदन्तमार्तण्ड" में अनेक प्रकार के विषयों से संबंधित सामग्रियाँ थीं । उसमें प्रकाशित कुछ लेखों के शीर्षक यों थे -"श्रीमन गवर्नर जनरल", "बाहदुर का सभावर्णन", "फरासीस देश की खबर", "विलायती कपडा लूट की छुट", "सर्प दंशन विष उतारने की औषधी" आदि ।[4] इन शीर्षकों से "उदन्तमार्तण्ड" के सामाजिक एवं राजनीतिक बोध का भी परिचय होता है ।

---

1. शिवकुमार दुबे, हिन्दी पत्रकारिता इतिहास एवं स्वरूप, 1992, पृ. 26.
2. डॉ. रत्नाकर पाण्डेय, हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना, 1976, पृ. 64.
3. अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, उद्धृत, 1976(द्वितीय संस्करण), पृ. 97.
4. बृजेन्द्रनाथ बनर्जी, हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र, विशालभारत, मार्च 1931, पृ. 421-27.

अपनी आयु अल्प होने के बावजूद उसने हिन्दी पत्रकारिता के लिए एक आदर्श गठ लिया था और उसका जनता पर विशेष प्रभाव था ।

हिन्दी पत्रकारिता के उत्कर्ष में विश्रुत समाज सुधारक राजा राममोहन राय की मूल्यवान देन है । तमाम इतिहासकारों और आलोचकों ने इस तथ्य का समर्थन किया है । राय ने द्वारिकानाथ ठाकुर, प्रसन्नकुमार ठाकुर जैसे सामाजिक कर्मियों के सहयोग से, असंख्य चुनौतियों का सामना करते हुए, कलकत्ता से "बंगदूत" नामक एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया था । यह हिन्दी के अतिरिक्त बंगला और फारसी में भी निकलता था । हिन्दी में "बंगदूत" का प्रथम अंक 10 मई 1829 में प्रकाश में आया था । उसके संपादक थे नीलरतन हालदार । पूर्ववर्ती पत्रों की तुलना में इसकी भाषा कहीं अधिक प्रांजल एवं बोधगम्य थी । 30 जुलाई तक "बंगदूत" लगातार निकलता रहा और बाद में बंद हुआ ।

"बंगदूत" असल में राजा राममोहन राय के प्रगतिशील विचारों का वाहक पत्र था । उसमें सामाजिक सुधार की भावना प्रकट होती थी । "बंगदूत" में ऐसे अनेक लेख प्रकाशित होते थे जिनमें सामाजिक-समस्याओं का विश्लेषण प्राप्त होता था । तत्कालीन रूढीवादी हिन्दु-समाज के जातिवाद, सती-प्रथा जैसे धार्मिक पाखंडों व अनैतिक आचरणों के खिलाफ राय उसमें लिखा करते थे जिससे परंपरावादी हिन्दु-लोग उनसे रूष्ट हुए थे । "बंगदूत" के बंद हो जाने का एक कारण यह भी कहा गया है ।

---

1. डॉ. वेदप्रताप वैदिक, हिन्दी पत्रकारिता के 150 वर्ष, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 23 मई, 1976, पृ. 9.

"बंगदूत" के बाद हिन्दी में व्यवस्थित रूप में राजनीतिक और सामाजिक जागृति की आवाज़ "समाचार सुधावर्षण" में सुनाई पडती हैं । वह हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र था जिसका प्रकाशन सन् 1853 के जून में कलकत्ता से हुआ था । वह एक द्विभाषी पत्र था । उसमें हिन्दी व बंगला की सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रा में छपती थीं । "समाचार सुधावर्षण" के संपादक श्यामसुन्दर सेन थे । वह मूलत: एक राजनीतिक तथा सामाजिक पत्र था जिसमें देश-विदेश के कई समाचार प्रकाशित होते थे । "समाचार सुधावर्षण" की शैली अत्यधिक पैनी थी । "उसकी प्रमुख विशेषता यह थी कि वह ब्रिटिश शासकों को राजकीय समस्याओं पर बडी संजीदगी से प्रोत्साहन, परामर्श और चेतावनी देता चलता था ।"[1] "समाचार सुधावर्षण" में सत्ता की नीति पर कई बार असंतोष प्रकट किये गये थे । भारतीयों में जातीय चेतना उत्पन्न करने में इस पत्र ने कठिन कार्य किया था । परिणाम स्वरूप वह सरकार के कोप का शिकार हो गया ।[2] आखिर उसका प्रकाशन अवरुद्ध हुआ । परवर्ती पत्र-पत्रिकाओं के लिए "समाचार सुधावर्षण" बडी प्रेरणा और आदर्श रहा है ।

हिन्दी के आलोच्यकालीन समाचार पत्रों की राजनीतिक तथा सामाजिक प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति के अनेक आयाम थे जिनमें गरम और नरम की प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं । भारत की प्रथम स्वाधीनता क्रांति के परिवेश में पैदा हुए "पयामे आज़ादी" का चरित्र अपेक्षाकृत गरम था । वह हिन्दी का पहला विद्रोही पत्र था । उसके प्रकाशक स्वतंत्रता संग्राम के मशहूर समर्थक अजीमुल्लाखां थे और विख्यात विद्रोही बेदार बख्त उसके संपादक थे । उसमें तत्कालीन अंग्रेज़ी शासकों की कठोर आलोचना और जातीय चेतना का आह्वान

---

1. डॉ. वंशीधर लाल, भारतेन्दुयुगीन पत्रकारिता, 1986, पृ. 83.
2. डॉ. वेदप्रताप वैदिक, हिन्दी पत्रकारिता के 150 वर्ष, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 23 मई 1976, पृ. 9.

मौजूद था । उसने हिन्दी पत्रकारिता में नये दायित्व बोध के आलोक की रचना करते हुए आज़ादी की बलिवेदी पर स्वयं की चढाई की । यद्यपि "पचासे आज़ादी" का शोकभरी अंत हिन्दी पत्रकारिता के लिए एक भारी धक्का था, फिर भी हिन्दी की राष्ट्रवादी पत्र-पत्रिकाओं ने उससे काफी ऊर्जा ग्रहण की है ।

हिन्दी पत्रकारिता के उषाकाल में ऐसे बहुत-से पत्र प्रकाशित हुए थे जिन्होंने हिन्दी भाषा के विकास में उल्लेखनीय देन दी है । उनमें हिन्दी भाषा की प्रगति-यात्रा के क्रम दर्शनीय हैं । हिन्दी के प्रारंभिक गद्यकार शिवप्रसाद सितारे हिन्द द्वारा काशी से सन् 1845 में प्रकाशित "बनारस अखबार" इस दिशा का पहला कदम था । उसके संपादक गोविन्द रघुनाथ दत्त थे । शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने "बनारस अखबार" में उर्दू के शब्दों का बडी मात्रा में प्रयोग करते हुए एक नयी उर्दू-मिश्रित भाषा-शैली का सृजन किया।[1] "बनारस अखबार" की भाषा को लेकर भाषाविदों के बीच गंभीर बहस हुई है ।

"बनारस अखबार" की भाषा-शैली के विरोध में आगरा से "प्रजाहितैषी" का प्रकाशन आरंभ हुआ था । राजा लक्ष्मणसिंह उसके संपादक थे । "प्रजाहितैषी" की भी प्राथमिक अपेक्षा हिन्दी गद्य का परिष्कार था । राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत की शब्दावली का भरपूर प्रयोग करते हुए एक संस्कृत गर्भित गद्य-शैली का आयोजन किया । हिन्दी भाषा को परिमार्जित करने में "सुधाकर" का भी योगदान था । वह एक साप्ताहिक पत्र था जिसका प्रकाशन वराणसी से, सन् 1850 में तारामोहन मिश्र के संपादन में हुआ था । "सुधाकर"

---

1. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 1962, पृ. 189.

की भाषागत विशेषता के आधार पर उसको हिन्दी प्रांत का पहला पत्र कहने की इच्छा भी प्रकट की गयी है । पूर्ववर्ती पत्रों की तुलना में उसका भाषिक स्तर ऊँचा था । यहाँ भाषिक स्तरीयता की दृष्टि से "बुद्धिप्रकाश" का नाम भी अवश्य स्मृति-योग्य है । सन् 1852 में आगरा से मुंशी सदासुखलाल के संपादकत्व में उसका पहला अंक निकला था । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल "बुद्धिप्रकाश" की भाषा की तारीफ की थी । उसने हिन्दी में एक ऐसी पत्र-भाषा और शैली को विकसित किया है जो तत्कालीन तथा परवर्ती पत्रों के लिए मानक रही थी ।

अंततोगत्वा ये सारे समाचारपत्र हिन्दी गद्य-साहित्य के उत्कर्ष के प्रारंभिक चरण थे । उन्होंने हिन्दी की शब्द संपदा को समृद्ध करने के साथ-साथ, हिन्दी को गद्य-लेखन के लिए उपयोगी साधन के रूप में परिष्कृत किया और गद्य-शैली के विभिन्न स्तरों का परिचय भी दिया जिनसे परवर्ती हिन्दी पत्रकारिता लाभान्वित हुई है ।

इनके अलावा सन् 1826 और 1866 के अंतराल में, हिन्दी में, पत्र और भी निकलते थे । उनकी कोई विशिष्ट दृष्टि या विशेष उद्देश्य नहीं थे । उनका कार्य सूचनाओं के प्रेषण और प्रांतीय समाचारों के संकलन तक सीमित रहा है । प्रजामित्र, मालवा-अखबार, जगदीप्रभास्कर, साम्यदंडमार्तण्ड सर्वहितकारण, जिलायी प्रताप, सूरज प्रकाश, ज्ञानदीप, लोकहित, तत्वबोधिनी, ज्ञान प्रदायिनी, मारवाड गज़ट, शक्ति प्रदीप आदि उस ढंग के प्रमुख पत्र थे । हिन्दी पत्रकारिता के आरंभिक इतिहास में इन पत्रों के नाम भी लिये जाते हैं ।

नवजागरणकालीन प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाएँ

भारतीय नवजागरण भारतीय समाज के आधुनिकीकरण के आग्रह से प्रेरित एक सांस्कृति कार्य की संज्ञा है जिसके लिए पुनर्जागरण, "पुनरुत्थान", "नवोत्थान" जैसे शब्द भी प्रयुक्त हैं । वह अतीत के संस्कार और आधुनिक यथार्थ के समन्वय का रचनात्मक उत्पाद है । "उसके मूल में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का विशेष महत्व है ।"[1] राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि अरविन्द, दयानंद सरस्वती, विवेकानन्द, एनीबसेंट सरीखे सामाजिक उन्नायकों तथा आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, रामकृष्णमिशन, द थियॉसफिकल सोसाइटी जैसी संस्थाओं के सौजन्य से भारतीय नवजागरण का कार्य संपन्न हुआ है । भारत में "ईस्ट इंडिया" कंपनी के शासनकाल को राष्ट्रीय नवजागरण का प्रस्थान बिंदु माना जाता है तो 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम को हिन्दी नवजागरण का ।"[2] शिक्षा, साहित्य, संस्कृति एवं विचाराधार के स्तरों पर उसकी असीम प्रेरणा रही है । असल में हिन्दी नवजागरण वह धारा है, जो देश भक्ति धारा, मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित करनेवाली धारा, पारस्परिक प्रेम की धारा, सारे भारतवासियों को जाति-धर्म निर्विशेष एक समझने की धारा, सांप्रदायिक सहिष्णुता की धारा, भाषा-माध्यम से जुडने की धारा ये सब मिलकर बनती है ।"[3] निष्कर्षत: राष्ट्रवादिता, सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक बोध, जनधर्मिता, अतीत का गौरव आदि नवजागरण की ऐतिहासिक पहचान है । अतएव हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता के संदर्भ में बडे उत्साह के साथ नवजागरण की चर्चा होती है ।

---

1. डॉ. नगेन्द्र (सं), हिन्दी साहित्य का इतिहास, (डॉ. बच्चनसिंह के लेख "आधुनिक काल पूर्वपीठिका" से उद्धृत) 1994 (तेईसवां संस्करण), पृ. 438.
2. बहादुर मिश्र, नवजागरण और लघुपत्रिका, संवेद, जून 1993, पृ. 20.
3. श्रीनारायण पाण्डेय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नये संदर्भ की तलाश, 1988, पृ. 51.

कविवचनसुधा

हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं के परिप्रेक्ष्य में नवजागरण का असर पहली बार "कविवचनसुधा" में दिखाई देता है । भारतेन्दु के संपादन में 12 अगस्त 1867 ई. में, काशी से "कविवचनसुधा" का प्रकाशन आरंभ हुआ था ।[1] "सुधा (कविवचनसुधा) वह पहली पत्रिका थी जिसने विचार-स्वातंत्र्य क्रांतिकारी भावबोध और भाषा के स्थिरीकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।"[2] "कविवचनसुधा का कोई नियत रूप नहीं था । वह तो पहले मासिक रूप में निकलती थी, फिर पाक्षिक और आखिर साप्ताहिक हुआ । आरंभिक दौर में "कविवचनसुधा" एक शुद्ध साहित्यिक पत्रिका थी और क्रमशः उसकी दृष्टि राजनीतिक हो गयी । "कविवचनसुधा" की कायापलट की प्रेरणा मुख्यतः तत्कालीन राजनीतिक स्थिति और नवजागरण से प्रेरित थी । नतीजतन "कविवचनसुधा" में ऐसी असंख्य रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं जिनमें तद्युगीन अंग्रेज़ी शासकों की कठोर नीतियों की आलोचना और जनसाधारण की स्वाधीन-चेतना के अनेक क्षण उपलब्ध थे । "कविवचनसुधा" में प्रकाशित "प्रतिज्ञापत्र" उसकी राष्ट्रवादिता का प्रमाण था । "प्रतिज्ञापत्र" इस प्रकार था -"हम लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्यपरमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलयती कपडा न पहिनेंगे और जो कपडा कि पहले से मोल ले चुके है और आज की तिथि तक हमारे पास है उसको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपडा न पहिरेंगे ।"[3] "कविवचनसुधा" की यह स्वाधीन चेतना उसकी नस-नस में व्याप्त थी । स्वयं उसका आदर्श वाक्य "स्वत्व निज भारत गहे" था ।

---

1. रामरतन भटनागर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 1950 (द्वितीय संस्करण), पृ. 128.
2. डॉ. वंशीधरलाल, भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता, 1986, पृ. 86.
3. कविवचनसुधा, प्रतिज्ञापत्र, 23 मार्च 1874, संपादकीय पृष्ठ.

"कविवचनसुधा" का एक स्वस्थ सांस्कृतिक पक्ष भी था । उसने सांप्रदायिकता, जातिवाद, धार्मिक अंधता, बाल-विवाह जैसी सामाजिक समस्याओं के विरोध के कई चित्र दिये थे । उसमें स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह का समर्थन हुआ था और उसमें तत्कालीन विचार-पद्धति, जनता की मानसिकता, उनके आग्रह और सामाजिक व सांस्कृतिक अवधारणाओं का सच्चा दस्तावेज़ भी उपलब्ध था । इस तरह भारतेन्दु ने जागरण का एक शक्तिशाली स्रोत प्रवाहित किया और सतत इस बात की चेष्टा रही कि भारतवर्ष शीघ्र ही नवीन चेतना और शक्ति ग्रहण कर उन्नति-पथ की ओर अग्रसर हो ।"[1] उनकी "कविवचनसुधा" में अतीत के प्रति नितांत आदर भाव था जिसकी अभिव्यक्ति अतीत के कृति-पुरुषों की अमर रचनाओं के पुनः प्रकाशन के माध्यम से हुई थी । चंदबरदाई का "पृथ्वीराज रासो", कबीर के दोहे, जायसी का "पद्मावत", बिहारी के दोहे, देव का "अष्टायाम", दीनदयाल का "अनुराग बाँसुरी", गिरिधर का "नहुष" आदि इस कोटि की रचनाएँ थीं ।

हरिश्चन्द्रचन्द्रिका

"कविवचनसुधा" की जो जागरण-चेतना थी, वह "हरिश्चन्द्र मैगज़िन"अथवा "हरिश्चन्द्रचन्द्रिका" में आकर तेज़ हुई थी । वह भारतेन्दु की दूसरी साहित्यिक पत्रिका थी । "कविवचनसुधा" के ठीक छः वर्ष बाद उसका प्रकाशन शुरू हुआ था । पत्रकारिता के द्वारा राष्ट्रीय-सम्मान की भावना जगाना, हिन्दी की विभिन्न साँस्कृतिक धाराओं को समृद्ध करना, साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना आदि उसकी प्राथमिक अपेक्षाएँ थीं । अपनी सुदृढ राजनीतिक पक्षधरता की वजह से "हरिश्चन्द्र मैगज़िन" अंग्रेज़ों की ओर से पीडित हुई थी । सन् 1879 के बाद पं. मोहनलाल विष्णुलाल पांण्ड्या के संपादकत्व में

---

1. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 1956 (द्वितीय संस्करण), पृ. 62.

प्रकाशित "मोहन चन्द्रिका" से मिलकर वह उसी नाम से निकलना आरंभ हुआ । तबसे उसका सामाजिक व साहित्यिक महत्व नहीं रहा ।

बालाबोधिनी

"बालाबोधिनी" भारतेन्दु द्वारा संपादित एक महिला मासिक पत्रिका थी । जनवरी 1874 ई. में एक विशेष सामाजिक उद्देश्य से उसका प्रकाशन प्रारंभ हुआ था । भारतेन्दु की अन्य पत्रिकाओं की तुलना में "बालाबोधिनी" की खूबी यह थी कि वह उस ढंग की पहली हिन्दी पत्रिका थी। उसमें प्रगति-शील दृष्टि से नारी-समस्याओं पर चर्चा होती थी । "बालाबोधिनी" सच्चे अर्थ में एक नारी-जागरण की पत्रिका थी । उसमें भारतेन्दु की सुधार चेतना की स्पष्ट झलक मिलती थी । "उसमें स्त्रियोपयोगी लेख ही अधिक छपते थे ।"[1] उसमें स्त्री को शिक्षित करने का सांस्कृतिक लक्ष्य निहित था । दूसरी तरफ इस पत्रिका के माध्यम से भारतेन्दु पाठक वर्ग के सामाजिक दायित्व बोध को जागृत करना चाहते थे जिससे पुरुषसत्तात्मक अनुशासन और उत्पीडन से नारी, मुक्त हो जाये ।

हिन्दी प्रदीप

नवजागरणकालीन साहित्यिक पत्रिकाओं में "कविवचनसुधा" के बाद "हिन्दी प्रदीप" का नाम ज़्यादा चर्चित होता है । "हिन्दी प्रदीप" एक मासिक पत्रिका थी । । सितंबर 1877 ई. में प्रयाग से उसका पहला अंक निकला था । उसका संपादन कार्य भारतेन्दु-मण्डल के वरिष्ठ सदस्य

---

1. व्रजरत्नदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 1962, पृ. 195.

पं. बालकृष्ण भट्ट द्वारा संपन्न हुआ था । वह बालकृष्ण भट्ट के पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करनेवाली एक पत्रिका थी ।[1] अनेक विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए वह पैंतीस वर्ष तक जीवित रहा ।

हिन्दी पत्रकारिता के घटना-क्रम में "हिन्दी प्रदीप" का अवतरण एक ओजस्वी प्रसंग है । वह नवजागरणकालीन साहित्यिक पत्रकारिता की जागृति-चेतना से ओतप्रोत था । उसके साहित्यिक महत्व के समानांतर एक राजनीतिक महत्व भी है । उसने भारत के राष्ट्रीय उत्कर्ष के समर्थन के संदर्भ में लिखा था -"वही सुशिक्षा और सभ्यता का दम भरनेवाले हम है कि विदेशी वस्तुओं के बर्ताव के लिए हज़ार सिर धुनते हैं और प्रत्यक्ष देख भी रहे है कि देश की बनी हुई वस्तुओं को काम में न लाने से दरिद्रता देश के कोने कोने में डेरा किये हैं पर बिलायती चीज़ों के चटकीले और नफासत में ऐसे फँसे हैं कि हमारे हज़ार बार लेक्चर का एक भी फल न हुआ ।"[2] इसमें देशवासियों की गुलामी मानसिकता की मार्मिक आलोचना हुई थी। "हिन्दी प्रदीप" की आवाज़ अपेक्षाकृत तेज थी । सन् 1910 ई. में पं. माधव शुक्ल की "ज़रा सोचो तो चारों यह बम क्या है", नामक जो कविता उसमें छपी थी उसपर नाराज़ होकर अंग्रेज़ों ने सदा के लिए उसका प्रकाशन बंद कर दिया ।[3] प्रस्तुत घटना, हिन्दी पत्रकारिता के लिए एक नया मोड था ।

"हिन्दी प्रदीप" ने तत्कालीन भारत की सामाजिक स्थितियों का सही चित्रण किया था । सांप्रदायिक भेद-भाव पर उसकी बडी चिंता थी।

---

1. डॉ. गंगानारायण त्रिपाठी, हिन्दी पत्रकारिता और गद्यशैली का विकास, 1987, पृ. 10.
2. रामरतन भटनागर के "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" से उद्धृत, 1947, पृ. 134.
3. संजीव भानावत, पत्रकारिता इतिहास एवं जन-संचार माध्यम, 1988, पृ. 48.

धार्मिक सहयोग की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए एक मुसलमान द्वारा लिखा गया पत्र "मेल-मिलाप" इसका उदाहरण है ।[1] पराधीन भारत की, समस्याओं को लेकर "हिन्दी प्रदीप" में, "एक बालविधवा", "एक समाज का उत्सुक", "रीवा का मौसा", "एक दूरदर्शी", जैसे छद्मनामों से कई टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं जिनके असली नाम अभी तक अज्ञेय हैं । यद्यपि तत्कालीन जागरण-आन्दोलनों से उद्विग्न होकर "हिन्दी प्रदीप" का साहित्यिक स्वरूप ज़्यादा राजनीतिक व सांस्कृतिक हो गया था, तो भी हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति में उसने अखंड तपस्या की थी ।

ब्राह्मण

15 मार्च सन् 1883 में, कानपूर से पं. प्रतापनारायण मिश्र ने "ब्राह्मण" नाम की एक साहित्यिक पत्रिका निकाली थी । "ब्राह्मण" एक मासिक पत्रिका थी । भारतेन्दु के सांस्कृतिक आदर्शों से "ब्राह्मण" लाभान्वित था । भारतेन्दु के अतिरिक्त हरिऔध, राधाकृष्णदास, श्रीधरपाठक, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री, कालीचरण द्विवेदी आदि "ब्राह्मण" के प्रमुख लेखक थे । उनमें हरिऔध, राधाकृष्णदास और संपादक प्रतापनारायण मिश्र की रचनाएँ बडी मात्रा में प्रकाशित होती थीं जिसपर अनेक आरोप लगाये गये हैं ।

जैसे कि नाम से भ्रम उत्पन्न होता है, "ब्राह्मण" किसी उच्चजाति की प्रतिष्ठा एवं समर्थन केलिए कार्यशील कोई सांप्रदायिक पत्रिका नहीं थी । उसमें विविध विषयों पर सामग्रियाँ उपलब्ध होती थीं । यद्यपि "ब्राह्मण" मूलत: एक साहित्यिक पत्रिका थी फिर भी इस "देश-हितैषी" पत्रिका केलिए कोई

---

1. हिन्दी प्रदीप, 5 मई, 1899 ई, पृ. 13.

राजनीतिक मामला या समस्या अवांछनीय नहीं थी । हिन्दी भाषा और हिन्दुस्तानियों के प्रति "ब्राह्मण" में अत्यंत लगाव था । प्रतापनारायण मिश्र ने उसमें मातृभाषा और मातृभूमि पर अनेक रचनाएँ प्रकाशित की थीं ।

सामाजिक दृष्टि से "ब्राह्मण" नवजागरण युग की एक चर्चित पत्रिका थी । तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग की जातिवादी नीतियों पर "ब्राह्मण" में कई बार व्यंग्य किये गये थे । एक अवसर पर प्रतापनारायण मिश्र ने उसमें यों लिखा था, "इनकी {ब्राह्मणों की} पैदाइश विराट भगवान के मुख से है और मुख ऐसा स्थान है जहाँ थूक भरा रहता है । फिर जो थूक के ठोर से जन्मेगा, वह कहाँ तक थूकेलापन न करेगा ।"[1] इसी तरह समाज में प्रचलित सती-प्रथा, दहेज, बहुपत्नीत्व, धार्मिक असहिष्णुता आदि पर "ब्राह्मण" में कटु टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई थीं ।

"ब्राह्मण" का सृजनात्मक गौरव ज़रा भी कम नहीं था । उसका "समायोजना स्तंभ" ने उस समय काफी यश पाया था । उसमें नवजागरण काल की प्रमुख कृतियों की समीक्षा होती थी । "भाग्यवती", संयोगिता-स्वयंवर", "शृंगार लतिका" आदि कुछ ऐसी रचनाएँ थीं जिनकी आलोचना "ब्राह्मण" में हुई थी । "ब्राह्मण" में अनुवाद के प्रति थोडा बहुत आकर्षण था । अनुवाद की सांस्कृतिक आवश्यकता पर वह सजग था । अनुवाद मुख्यत: अंग्रेज़ी और बंगला से होता था । अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए प्रताप नारायण मिश्र ने बारह वर्ष तक "ब्राह्मण" का प्रकाशन जारी रखा । अपनी सीमित अवधि के बावजूद ब्राह्मण ने तत्कालीन, राजनीति, संस्कृति और साहित्य को खूब प्रभावित किया था ।

---

1. डॉ. वंशीधरलाल के "भारतीय स्वतंत्रता और पत्रकारिता" से उद्धृत, 1989, पृ. 96.

सरस्वती

"सरस्वती" नवजागरण काल की एक अद्वितीय साहित्यिक पत्रिका थी । नागरीप्रचारिणी सभा के तत्वावधान में, जनवरी 1900 ई. में इलाहाबाद से उसका प्रकाशन आरंभ हुआ था । "सरस्वती" के प्रारंभिक संपादकों में श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास, जगन्नाथदास "रत्नाकर", किशोरीलाल गोस्वामी, कार्तिक प्रसाद खत्री आदि प्रमुख थे । सन् 1903 में युगस्रष्टा महावीर प्रसाद द्विवेदी "सरस्वती" के संपादक नियुक्त हुए । उसके दूसरे वर्ष "सरस्वती" नागरी प्रचारिणी सभा के बंधन से मुक्त हो गयी । द्विवेदी ने सत्रह साल तक "सरस्वती" का संपादन कार्य किया था । उनके योगदानों के मूल्यांकनस्वरूप पूछा गया है "हिन्दी पत्रकारिता की गौरव गंगा यदि "सरस्वती" कही जाय तो द्विवेदीजी को भगीरथ संपादक के अतिरिक्त और क्या क्या कहेंगे ।"[1] "सरस्वती" सभी दृष्टियों से अपने समय की साहित्यिक पत्रिकाओं में शीर्षथ मानी जाती थी । उसने हिन्दी साहित्य के सर्वांगीण विकास के लिए आशातीत कार्य किये थे ।

"सरस्वती" हिन्दी की वह प्रतिनिधि पत्रिका थी जिसका राजनीतिक तथा सामाजिक योगदान प्रखर था । उसने भारत के स्वतंत्रता-आंदोलन को दिशा देने का और जनता को भारत की पराधीन स्थिति से अवगत कराने का ऐतिहासिक कार्य किया था । हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी में एक साथ "वंदेमातरम्" का प्रकाशन करते हुए सरस्वती ने, अपने स्वाधीन मूल्य और साम्राज्यवाद-विरोध की घोषणा की थी । उसने तेजस्वी पत्रकार माधवराव सप्रे के "इंग्लैंड की व्यापार नीति", "हड़ताल" जैसे लेखों के माध्यम से उस क्रम को जारी रखा । "सरस्वती" में ऐसे कई गीत और काव्य प्रकाशित होते थे

---

1. डॉ. रत्नाकर पाण्डेय, पत्रकार प्रेमचंद और हंस, 1977, पृ. 59.

जिनमें भारतवासियों के देश-प्रेम को प्रदीप्त करने की अपार क्षमता थी । "सरस्वती" की जागरूकता "सामाजिक स्तर पर भी दिखाई देती थी । मज़दूरों व किसानों का शोषण, रंगभेद, गुलामी-प्रथा आदि का उसने घोर विरोध किया था ।[1] नवजागरण से प्रेरित होकर शिक्षा का अभाव, सामाजिक पिछडापन, जनता की उदासीनता, स्त्रियों की पराधीन स्थिति जैसी समस्याओं पर अनेक अग्रलेख और आलोचनात्मक लेख उसमें छपे हुए थे ।

"सरस्वती" ज्ञान की पत्रिका थी उसमें इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान जैसे विषयों पर महत्वपूर्ण सामग्रियाँ प्रकाशित थीं । उसमें पाठक वर्ग के ज्ञान-काण्ड को भरपूर करने की इच्छा थी । उसने तद्युगीन सांस्कृतिक कार्यक्रमों का नेतृत्व भी किया था । "वह हिन्दी नवजागरण का मुखपत्र थी और हिन्दी-भाषी जनता की सर्वमान्य जातीय पत्रिका थी ।"[2] उसने बिखरी हुई जन-शक्ति को एकताबद्ध करने का भरसक प्रयास किया था । इसी वजह से "सरस्वती" को व्यापक सांस्कृतिक उद्देश्य से प्रेरित एक सामूहिक योजना का फल, कहा गया है ।[3] वह परवर्ती पत्रिकाओं के लिए बडी प्रेरणा थी ।

"सरस्वती" उच्च आदर्श की वाहक साहित्यिक पत्रिका थी जिसे हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता की मील पत्थर कहा जा सकती है ।

---

1. डॉ. विश्वामित्र उपाध्याय, भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन और हिन्दी साहित्य, 1989, पृ. 119-201.
2. डॉ. रामविलास शर्मा, हिन्दी की जातीय पत्रिका सरस्वती, आलोचना, अप्रैल -जून, 1977, पृ. 5.
3. रामबक्ष, सरस्वती में संस्कृति, आलोचना, जुलाई-सितंबर, 1977, पृ. 41.

उसमें संपादन-कला की चरम उन्नति द्रष्टव्य है । तत्कालीन तथा परवर्ती युग की साहित्यिक पत्रिकाओं के लिए वह महान प्रेरणा बनी रही थी । मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, पद्मसिंह शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, कामताप्रसाद गुरु, काशीप्रसाद जायसवाल, माधव राव सप्रे, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक आदि "सरस्वती" के विद्वान लेखक थे । "उस समय का कोई ऐसा लेखक नहीं हो, जो बाद में प्रसिद्ध हुआ हो और पहले उसकी रचनाएँ "सरस्वती" में न छपी हों ।"[1] तत्कालीन तमाम रचनाकार सरस्वती में लिखने के लिए काफी आतुर रहे थे और "सरस्वती" में लिखते हुए उन्होंनें आत्मतुष्टि का अनुभव किया था ।

"सरस्वती" की साहित्यिक भूमिका अत्यंत गौरवमयी थी । द्विवेदीयुगीन काव्य की परिकल्पना सरस्वती द्वारा संपन्न हुई थी । द्विवेदी युगीन साहित्य की समूची मान्यताएँ "सरस्वती" में प्रकाशित रचनाओं के माध्यम से निर्धारित हुई थीं । "सरस्वती" ने साहित्य की स्थूलात्मक और वस्तुपरक तत्वों पर ज़्यादा बल दिया था । द्विवेदी की सृजनात्मक अभिरुचि से वह पूर्णतया प्रभावित था । नवजागरणकालीन साहित्यिक पत्रिकाएँ मूलत: नवजागरण के संदेश से प्रभावित थीं । उनमें साहित्य और संस्कृति के विचार समाविष्ट थे । प्रस्तुत अवधि में कुछ चर्चित पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुई थीं जिनका साहित्यिक योगदान अपेक्षाकृत प्रमुख था । साहित्य के इतिहास में उन साहित्यिक पत्रिकाओं का महत्व है । यहाँ ऐसी कुछ पत्रिकाओं का विवरण दिया जा रहा है ।

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा, हिन्दी की जातीय पत्रिका सरस्वती, आलोचना, अप्रैल-जून 1977, पृ. 5.

आनंदकादंबिनी

"आनंदकादंबिनी" उन्नीसवीं शती के अंतिम दशकों की एक साहित्यिक पत्रिका थी । इसका प्रथम अंक सन् 1881 में मुर्जापुर से निकला था । "आनंदकादंबिनी" के संपादक युग के मशहूर लेखक बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन थे । उसमें जिस भाषा का व्यवहार होता था वह सुबोध एवं सरल थी । उसमें कभी कभी भाषा के व्यष्टिगत प्रयोग भी देख सकते थे । "आनंदकादंबिनी," प्रेमघन की सृजनशीलता की वाहक पत्रिका थी उसमें मुद्रित अधिकांश कविताओं व लेख संपादक के अपने थे । इसपर विद्वानों की ओर से कटु आलोचना हुई थी । फलत: प्रेमघन ने "आनंदकादंबिनी" का द्वार उन लेखकों के लिए भी खुला रखा जो उनकी मान्यताओं से सहमत थे । "आनंदकादंबिनी" की ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्ता यह है कि हिन्दी में आधुनिक आलोचना का सूत्रपात उसके द्वारा संभव हुआ था । प्रेमघन ने श्रीनिवास कृत "संयोगिता स्वयंवर" और गदाधरसिंह कृत वंगविजेता के अनुवादों की जो विस्तृत आलोचना "कादंबिनी" में की थी उसे हिन्दी की प्रथम आदर्शमयी आलोचना कहते हैं ।[1] "आनंदकादंबिनी" के गौरव का निष्कर्ष यों निकालकर सकते हैं कि वह अपने समय की रचना और राजनीति को रूपायित करने के लिए अपनी योग्यता का यत्र-तत्र उपयोग किया है ।

नागरीनीरद

बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन की दूसरी पत्रिका थी "नागरीनीरद" जिसका प्रकाशन सन् 1 सितंबर 1892 ई. में हुआ था । वह पहले एक साप्ताहिक पत्रिका थी, फिर मासिक हो गया । "नागरीनीरद" की एक विशेषता उसके विभिन्न स्तंभ थे जिनके अन्तर्गत राजनीति, शिक्षा, समाज आदि साहित्येतर विषयों पर चर्चाएँ होती थीं । इन स्तंभों के शीर्षक काव्यमयी थे जैसे कि "संपादकीय संपत्ति समीर", "अनुवादांबुप्रवाह;" "नियम निर्घोष" आदि ।

1. डॉ. नगेन्द्र (सं), हिन्दी साहित्य का इतिहास, (डा. रामचन्द्र तिवारी के "भारतेन्द युग: गद्यसाहित्य" से उद्धृत). 1994 (तेईसवाँ संस्करण) प. 488

इनके अलावा "नागरीनीरद" में देश-विदेश के अनेक समाचार भी उपलब्ध होते थे और उनकी नियमित प्रतिक्रिया भी की जाती थी ।

समालोचक

"समालोचक" हिन्दी के आरंभिक कथाकार चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के संपादन में प्रकाशित एक स्तरीय साहित्यिक पत्रिका थी जिसका प्रथम अंक अगस्त 1902 ई. में जयपुर से निकला था । कुछ समय के लिए गोपालराय गहमरी ने भी उसका संपादन किया था । "समालोचक" मुख्यत: एक आलोचना केन्द्रित पत्रिका थी । उसने हिन्दी की साहित्यिक समीक्षा की दृढ नींव डाली थी जिसपर परवर्ती आलोचना का ढाँचा निर्मित हुआ था ।

"समालोचक" में यद कहीं गुलेरी के सृजनात्मक व्यक्तित्व के प्रतिबिंब प्राप्त था । साहित्य की विकासशील प्रवृत्तियों के कई चित्र उसमें मिलते थे । इस दृष्टि से "समालोचक" के "समीक्षा-स्तंभ" का आयोजन एक महत्वपूर्ण कार्य था । उसके अन्तर्गत तत्काल में प्रकाशित प्रमुख पुस्तकों की नियमित समीक्षा हुई थी । "समालोचक" से प्रेरित होकर बाद में "सरस्वती" ने भी "पुस्तक समीक्षा-स्तंभ" का आरंभ किया था । "विषयवस्तु एवं स्तर की दृष्टि से यह पत्र अन्य किसी से कम नहीं था । "समालोचक" पत्र के द्वारा गुलेरी एक बहुत ही अनूठी लेखशैली लेकर हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए थे । "समालोचक" यों साहित्यिक पत्रकारिता की एक सार्थक पहल थी । हिन्दी गद्य के विकास में "समालोचक" की गौरवान्वित भूमिका थी ।

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् 2025, पृ. 496.

"समालोचक" में गुलेरी की जो संपादकीय टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई थीं वे अंतत: प्रखर और प्रभावात्मक थीं और भाषा का परिमार्जित व सारगर्भित रूप उनमें द्रष्टव्य था । आयु में अल्प होने के बावजूद "समालोचक" ने हिन्दी साहित्य पर अमिट छाप छोड दी थी ।

इंदु

"इन्दु" बीसवीं शती के प्रारंभिक दशक की एक विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका थी । उसका प्रकाशन सन् 1909 में काशी से अंबिकाप्रसाद गुप्त के संपादन में हुआ था । जयशंकर प्रसाद के मूल्यवान संपादन-सहयोग और और परामर्श से "इन्दु" पूर्णतया प्रभावित थी । छायावादी काव्यांदोलन को दिशा देने के लक्ष्य से उसका प्रकाशन आरंभ हुआ था । वह साहित्य की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति की समर्थक पत्रिका थी । "इन्दु" का उद्देश्य उदार तथा पवित्र साहित्य की महानता से ओतप्रोत था ।"[1] उसमें साहित्य के व्यक्तिपक्ष और सौन्दर्य पक्ष पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया था । स्वयं को तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों से दूर रखने में "इंदु" सदा जागरूक थी । अत: इंदु की महत्ता का मूल्यांकन साहित्यिक स्तर तक सीमित रहा है ।

नवजागरण युग हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता को जो अंशदान दिया है वह अवश्य अनमोल और असाधारण है । वस्तुत: वे नवजागरणकालीन साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं जिन्होंने विदेशी सत्ता के खिलाफ जातीय चेतना और जागरण व सुधार की भावना का मंत्र फूँका । वे दरअसल भारत की राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम की सृजनात्मक पृष्ठिका थी । भारत के

---

1. डॉ. रत्नाकर पाण्डेय, पत्रकार प्रेमचंद और हंस, 1977, पृ. 62.

राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न ऐतिहासिक मोड, उनसे कई दृष्टियों से लाभान्वित थे । तत्कालीन सामाजिक उन्नायकों से प्रभावित होकर उन्होंने जातिवाद, सांप्रदायिकता, छुआछुत, शोषण, धार्मिक पाखंड जैसी सामाजिक कुरीतियों एवं कुप्रथाओं के विरुद्ध सामाजिक जागरूकता को बुलंद किया था । यों "हिन्दी प्रदेश का नवजागरण एक नयी चेतना को भी लेकर सामने आता है ।"[1] नवजागरणयुगीन साहित्यिक पत्रिकाओं में इसके कई चित्र मिलते हैं ।

नवजागरणकालीन साहित्यिक पत्रिकाओं में जनधर्मी चेतना का प्रारंभिक स्वरूप विद्यमान थे । एकाध विरोधी पहलुओं के होते हुए भी जनचेतना, असामाजिक आचरणों पर व्यंग्य, सांस्कृतिक नवोन्मेष, आदर्शवादिता एकनिष्ठ संकल्प आदि आलोच्य काल की साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्रियों के सामान्य लक्षण थे । यद्यपि कुछ पत्रिकाओं में, विशेषकर "सरस्वती" में, क्लासिकी साहित्य की प्रवृत्तियाँ नज़राती थीं तो भी वे कभी जन-विरोधी नहीं रही थीं । इस प्रकार, विस्तृत अर्थ में, नवजागरण कालीन साहित्यिक पत्रिकाएँ अपने युग की सांस्कृतिक संस्थाओं के काम में आयी थीं ।

इस दौर की साहित्यिक पत्रिकाओं ने पत्रकारिता के केन्द्र और नेतृत्व को वंगभूमि से हिन्दी प्रदेश की तरफ स्थानांतरित किया । उनके माध्यम से हिन्दी भाषा का रूप स्थिर और परिष्कृत हुआ और उन्होंने रीतिकालीन काव्यभाषा के सामंती प्रभाव से हिन्दी भाषा को मुक्त किया । उनके द्वारा साहित्योपयोगी खडी बोली का निर्माण हुआ । इस अवधि की साहित्यिक पत्रिकाओं की एक श्रेष्ठतम उपलब्धि, भाषा की जातीय चेतना की पहचान थी । फलत: भाषा में नयी शक्ति, स्फूर्ति और दृढता आयी ।

---

1. शिवकुमार मिश्र, प्रेमचंद विरासत का सवाल, 1981, पृ. 10.

उसमें लोकव्यवहार के अनेक शब्द समाविष्ट हुए । इन सबके फलस्वरूप समीक्ष्य काल की साहित्यिक पत्रिकाओं के ज़रिए योजनाबद्ध व व्याकरणनिष्ठ आधुनिक हिन्दी भाषा का शिलान्यास हुआ ।

हिन्दी में गद्यसाहित्य का वास्तविक इतिहास नवजागरणकालीन साहित्यिक पत्रिकाओं से शुरू होता है । कहानी, नाटक, निबंध, जीवनी साहित्य, संस्मरण, पत्र साहित्य, यात्रावृत्त, ज्ञान साहित्य जैसे गद्य की समूची विधाओं का सूत्रपात भी इन्हीं के द्वारा हुआ है । बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि प्रतिभावानों ने अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से गद्य की अलग-अलग शैलियों का परिचय दिया जिनका परिष्कार परवर्ती युग की पत्रिकाओं ने किया है ।

राष्ट्रीय मुक्ति-संग्रामकालीन प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाएँ

स्थूल एवं बहिर्रंगी दृष्टि से गाँधीजी के पदार्पण के साथ-साथ भारत में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का युगारंभ होता है । शांति और अहिंसा में विश्वास करनेवाले महात्मागाँधी का अवतरण भारतीय रंगमंच पर एक तूफान की भाँति हुआ ।[1] इस अर्थ में सन् 1920 और 1947 के अंतराल को राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का दौर कहा जा सकता है । यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से "मर्यादा" और "प्रभा" का प्रकाशन नवजागरण की अवधि में हुआ था फिर भी उनकी चेतना राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम की रही थी और राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक दृष्टि का उत्कर्ष भी, उसी वेला में हुआ था । अतएव "मर्यादा" और "प्रभा" का विवेचन राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलनकालीन पत्रिकाओं के अन्तर्गत किया जा रही है ।

---

1. रामगोपाल, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास, 1986, पृ. 282.

मर्यादा

"मर्यादा" अपने समय की एक स्तरीय साहित्यिक पत्रिका थी । उसका पहला अंक नवंबर 1910 में प्रयाग से, कृष्णकांत मालवीय के संपादकत्व में निकला था । सन् 1920 में यशस्वी पत्रकार संपूर्णानंद उसके संपादक हुए । उन्होंने "मर्यादा" में ऐसे कुछ अग्रलेख लिखे थे जिनका शासक वर्ग पर बुरा असर पडा था । उन्होंने संपूर्णानंद को जेल की सजा दी । तदुपरांत सन् 1922 में प्रेमचंद "मर्यादा" का संपादक हो गये । सन् 1923 में वह बंद हुआ ।

"मर्यादा" एक ऐसी पत्रिका थी जिसका पाठक समूह के साथ आत्मीयता पूर्ण नाता था । जनता को तत्कालीन राजनीतिक मामलों से अवगत कराना उसका घोषित अपेक्षा थी । "मर्यादा" का राजनीतिक बोध अधिक तेज था । उसमें भारत के मुक्ति-संग्राम के कई दृश्य मिलते थे । अपने ज़माने के प्रमुख राजनीतिक एवं सांस्कृतिक नेताओं के लेख और भाषण उसमें नियमित रूप से मुद्रित होते थे । "मर्यादा" के एकाध साहित्यिक विशेषांक निकले हैं । उनमें से बनारसीदास चतुर्वेदी के संपादन में प्रकाशित "प्रवासी अंक" खूब प्रसिद्ध हुआ था ।

प्रभा

"प्रभा" हिन्दी के महान लेखक माखनलाल चतुर्वेदी के संपादन में खण्डवा से प्रकाशित एक साहित्यिक पत्रिका थी जिसका पहला अंक 7 अप्रैल 1913 में निकला था । उसमें संपादक के स्थान पर कालूराम गंगराडे का नाम छपा था ।

---

1. डॉ. वेदप्रताप वैदिक (सं), हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम (लक्ष्मीशंकर व्यास के लेख "उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता"से उद्धृत), 1976, पृ. 131.

G5617

UNIVERSITY LIBRARY ALIGARH

सन् 1920 से लेकर 1926 तक गणेशशंकर विद्यार्थी और बालकृष्ण शर्मा "नवीन" ने "प्रभा" का संपादन कार्य किया था जब "प्रभा" कानपुर से निकलती थी । "प्रभा" के उद्देश्यों की तरफ उसने यों संकेत किया था -"अनेक विचारों का सामना कर आज "प्रभा" का प्रथम अंक पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है । इससे यह अनुमान हो सकता है कि "प्रभा" किस रीति से सेवा करना चाहती है । स्वर्गवासी महात्मा स्टेड ने विलायत को आगे रखकर जो कुछ किया है, प्रभा भी उक्त महात्मा की अनुकूल कार्यप्रणाली का महदादर्श मानचित्र अपने सामने लटकाकर कार्य करना चाहती हैं ।"[1] यह प्रस्ताव प्रभा के राजनीतिक सरोकार का प्रमाण था ।

प्रभा के मुख पृष्ठ पर मैथिलीशरण गुप्त की कविता "सुप्रभात" की ये पंक्तियाँ लगातार छपती थीं -

"उठो भाइयो । नींद को छोड दो, जगा, जाल आलस्य को तोड दो
मिटे सर्वदा को अविद्या-निशा, प्रभापूर्ण हो जाय प्राची-दिशा ।"[2]

इन पंक्तियों में "प्रभा" के राष्ट्रीय चिंतन का सार निहित है । प्रभा में समय-समय पर ऐसे अग्रलेख और आलेख मुद्रित हुए थे जिन्होंने जनता को तत्कालीन परिवेश का बोध कराने के साथ ही उनमें आज़ादी के प्रति मोह उत्पन्न किया था । प्रभा में युग की राष्ट्रीय गतिविधियों तथा भावनाओं एवं जीवन व जागरण की दुंदुभी बजती थी ।[3] इसके अलावा तद्युगीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक धाराओं को तीव्र करने में भी प्रभा ने पर्याप्त हिस्सा लिया था । "भारत की विधवाएँ" शीर्षकधारी टिप्पणी में "प्रभा" भारत की सामाजिक कुरीतियों का पटाक्षेप किया है । उसमें लिखा था - "भारत में विधवा

---

1. प्रभा, प्रभा का प्रादुर्भाव, 7 अप्रैल, 1913, पृ. 57.
2. वही, मुख पृष्ठ.
3. डॉ. रमेश जैन (सं) भारत में हिन्दी पत्रकारिता (राजीव दुबे "राजिम" के लेख "महाकौशल की हिन्दी पत्रकारिता" से उद्धृत), 1989, पृ. 174.

बालिकाओं की जो संख्या प्रकाशित हुई है तब हमारी आँखें नीची हो जाती हैं । विधवा ने हमारी दशा बुरी कर दी है । परंतु वे वीर जो इस प्रथा को समाप्त करने पर तुले थे वे आज कहाँ है, उन्हें भारत की लाखों विधवा बहिनें करुणा दृष्टि से देख रही है ।"[1] उसने दहेज प्रथा, बाल-विवाह, स्त्री जाति पर किये जाने वाले अत्याचार आदि पर भी गंभीर संपादकीय टिप्पणियाँ प्रकाशित की हैं । "प्रभा" ने नौजवानों को उनके खिलाफ दृढ़ संकल्प होने का आह्वान किया है ।

"प्रभा" तत्कालीन साहित्य की सही प्रोत्साहिका थी । उसमें साहित्य की विभिन्न विधाओं की उचित स्थान उपलब्ध था । "प्रभा" में अनेक विवादास्पद लेख प्रकाशित हुए थे जिनमें श्रीयुत भावुक का लेख "भौवों की भिडंत" सबसे प्रमुख था । प्रस्तुत लेख में यह सिद्ध करने की कोशिश की गयी थी कि निराला की अधिकाधिक कविताएँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं की अनुकृतियाँ हैं ।[2] इस विषय को लेकर हिन्दी साहित्य में बहुत दिनों तक बहस चली थी । प्रतिष्ठित लेखकों के साथ कई नये रचनाकारों को "प्रभा" में स्थान प्राप्त था । हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति "प्रभा" सचेत थी । "मध्यप्रदेश और राष्ट्रभाषा" शीर्षक संपादकीय टिप्पणी इसका उदाहरण है ।[3] "प्रभा" में प्रकाशित माखनलाल चतुर्वेदी के लेखों ने साहित्यिक पत्रकारिता को नये आयाम दिये थे । उन्होंने एक भारतीय आत्मा, भारत संतान, एक भारतवासी, एक नवयुवक, तरुण भारत, श्री विश्वव्याप्त सुधार, एक भारतीय प्रजा, श्रीशंकर, श्रीयुत नवनीत जैसे छद्म नामों से "प्रभा" में अनेक टिप्पणियाँ प्रकाशित की थीं ।

---

1. प्रभा, 7 मई 1913, संपादकीय, पृष्ठ. 17.
2. डॉ. रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, 1969, पृ. 99.
3. प्रभा, संपादकीय, 7 अप्रैल, 1913, पृ. 2.

"प्रभा" की साहित्यिक संभावनाएँ मूल्यवान हैं । इसलिए विद्वानों ने कई बार "सरस्वती" और "प्रभा" की तुलना करने का प्रयास किया था । "सामयिक जीवन तथा साहित्यिक ही नहीं, अपितु सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों के संवर्धन तथा विकास में भी वह उतनी ही दृढ़ता से सचेष्ट व सक्रिय थीं ।"[1] अतएव "प्रभा" अपने ज़माने की लोकप्रिय पत्रिका हुई थी ।

चाँद

"चाँद" बीसवीं शती के द्वितीय दशक की एक चर्चित साहित्यिक पत्रिका थी जिसका प्रकाशन सन् 1922 में इलाहाबाद से हुआ था । रामरख सहगल और चण्डीप्रसाद हृदयेश के संयुक्त प्रयास से "चाँद" का संपादन कार्य संपन्न हुआ था । नंदकिशोर तिवारी, त्रिवेणीप्रसाद, धनीराम, नवजातिकलाल श्रीवास्तव, चतुरसेन शास्त्री आदि के अतिरिक्त यशस्वी छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा ने भी "चाँद" की संपादक-गद्दी को अलंकृत किया था । मासिक और साप्ताहिक रूप में "चाँद" सन् 1938 तक प्रकाशित होती रही ।

अपने ऐतिहासिक साहित्यिक मूल्य के साथ-साथ "चाँद" के उच्च सामाजिक मूल्य भी थे । "चाँद" के प्रथम अंक में ही उसके उद्देश्यों की परिभाषा यों दी है - "चूँकि इस देश की अनेक सामाजिक कुरीतियों ने हमारे दिल पर गहरी चोट पहुँचायी थी और हमारी आत्मा बार बार हमें इस बात के लिए प्रेरित कर रही थी कि हम अपनी तुच्छ बुद्धि से इस देश के समाज सुधारकों का हाथ बंटावें और स्त्रियों के कल्याणार्थ "चाँद" नामक एक मासिक पत्र निकालें ।"[2] चाँद के कई उल्लेखनीय विशेषांक निकाले गये थे उनमें

---

1. डॉ. राजीव दुबे, हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आंदोलन, 1988, पृ. 51-52.
2. चाँद, हमारा उद्देश्य, प्रवेशांक, नवंबर 1922, पृ. 3.

वैश्यांक (1925), अछूतांक (1927), पत्रांक (1928), फाँसी अंक (1928), मारवाडी अंक (1929), समाज अंक (1930), और राजपूतानांक (1932) प्रमुख थे । "अछूता अंक" और "फाँसी अंक" क्रमशः "चाँद" के महान सामाजिक और राजनीतिक बोध के प्रमाण थे । "फाँसी अंक" में तत्कालीन अंग्रेज़ी सत्ता की दमन नीतियों की विद्रोहात्मक आलोचना उपलब्ध थी । वह पराधीन भारत की उन क्रांतिकारी शहीदों की श्रद्धांजली थी जिन्हें फाँसी पर झूलना पडा था । "इस अंक में जो महत्वपूर्ण सामग्री हैं उसे पाठक पढ़ेंगे तो यह भली-भाँति समझ सकेंगे कि देश की आज़ादी के लिए कुर्बान होने वाले जिन अनेक साहसी वीरों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया, कैसा उनका चरित्र था, कैसे उनके विचार थे और अपने देश के भविष्य को वे कैसा देखते थे ।"[1] यों "फाँसी अंक" भारत की राष्ट्रीय चेतना का उग्र स्वरूप था । उसकी आवाज़ इतनी गर्मीली थी कि अंग्रेज़ों ने उसे बंद कर दिया ।

"चाँद" की साहित्यिक भूमिका भी कम गौरव की नहीं थी । महादेवी वर्मा, विश्वंभरनाथ कौशिक, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, रामकुमार वर्मा, प्रेमचंद, जी.पी.श्रीवास्तव आदि "चाँद" के मुख्य लेखक थे । डा.मथुरा सिंह, बलवंत सिंह जैसे छद्मनामों से क्रांतिवीर भगतसिंह भी उसमें लिखते थे । "चाँद" में प्रायः ऐसी रचनाएँ ज़्यादा छपती थीं जो युगचेतना से अभिभूत थीं ।

मतवाला

"मतवाला" छायावाद युग की एक तेजस्वी पत्रिका का नाम था । हिन्दी पत्रकारिता की विकास-यात्रा में काफी गर्व के साथ 'मतवाला' का

---

1. नरेशचन्द्र तिवारी, भूमिका, चाँद-फाँसी अंक, 1988 (पुस्तकाकार संस्करण), पृ.3.

उल्लेख किया जाता हैं । उसका प्रभाव अत्यधिक व्यापक था । "व्यंग्य और विनोद इसका मूल स्वर था, पर यह गंभीर राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक प्रश्नों पर बेधड़क प्रगतिशील मत व्यक्त करता था ।"[1] अतः तत्कालीन साहित्यिक पत्रिकाओं से अलग उसकी आलोचना अनिवार्य हुई है ।

23 अगस्त 1923 ई. में कलकत्ता से "मतवाला" का पहला अंक निकला था । निराला, शिवपूजन सहाय, मालिक महादेव प्रसाद सेठ और नवजादिक लाल "मतवाला" के संपादक रहे थे । उसका चरित्र अत्यंत स्वच्छंद था । हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के पूरे परिदृश्य में व्यंग्य का सृजनात्मक प्रयोग प्रथम बार मतवाला में हुआ था । "सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, साहित्यिक - किसी कोई का पाखंड हो, मतवाले लेखकों की पैनी अचूक मार से न बचा....।"[2] इस प्रकार उसने साहित्य, भाषा, राजनीति, समाज तथा शासन प्रणाली की उग्रतम आलोचना के लिए व्यंग्य-विनोद का सहारा लिया था । "मतवाले की बहक", "चांबुक", "चलती चक्की" आदि स्तंभों का आयोजन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था जिनके मूल में निराला की सांस्कृतिक चेतना कार्यरत थी ।

"मतवाला" की कर्म-भूमि साहित्य के दायरों में सीमित नहीं थी । उसमें राजनीतिक और सामाजिक गति-विधियों के प्रति सचेतनता दीखती थी । "मतवाला" में महात्मा गाँधी के आदर्शों की तरफ अटल आस्था प्रकट की गयी थी ।[3,4] भारत में ब्रिटिश शासन को समाप्त करने के और

---

1. हरिशंकर परसाई, मतवाला और उसकी भूमिका, साक्षात्कार दिसंबर 1986, पृ. 4.
2. सोमदत्त, वही, पृ. 2.
3. मतवाला, 26 जनवरी, 1924, संपादकीय पृष्ठ.
4. वही, 31 मई, 1924, संपादकीय पृष्ठ.

भारतवासियों को गुलामी मानसिकता से मुक्त करने के उचित साधन के रूप में उसने गाँधीजी के विचारों का समर्थन किया था । किन्तु बाद में वह शांति के स्थान पर शक्ति ही उपासना करने लगा । "मतवाला" ने सांस्कृतिक उन्नति के लिए भी कई कार्य किये हैं । उसमें धार्मिक रूढि, अन्धविश्वास, छुआछूत, शोषण जैसी सामाजिक विकृतियों की व्यंग्यात्मक व्याख्या अनेक स्तरों पर हुई है । "मतवाला" की सामाजिक दृष्टि का एक सबल पक्ष यह था कि उसमें जातीय चेतना का स्वर ज़ोर से सुनाई देता था । "मतवाला" की राजनीतिक और सामाजिक भूमिका का आकलन करते हुए कहा गया है -"मतवाला अंग्रेज़ी राज का विरोधी और सामाजिक रूढीवाद का कट्टर शत्रु था । सन् 20 के स्वाधीनता आंदोलन के साथ देश में जो जागृति फैली "मतवाला" उसका प्रतिनिधि था । उसकी राजनीतिक चेतना गाँधीवाद की सीमाएँ लाँघकर देश और समाज की परिस्थितियों में और गहरे पैठती थी ।"[1] वह भारतेन्दु के दौर की पत्रधर्मिता का परिमार्जित संस्करण था । तत्काल की सुधार एवं स्वाधीनता की भावना और भाषा-प्रेम नये रूप में उसमें अवतीर्ण हुई थी ।

"मतवाला" के प्रकाशन के साथ हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता में एक नयी क्रांति का बीजांकुर हुआ था । उसके द्वारा साहित्यिक पत्रकारिता के नये नापदंड स्थापित किये गये थे । छायावादी बृहदत्रयी के प्रमुख सदस्य निराला की अधिकांश रचनाएँ "मतवाला" में प्रकाशित हुई थीं । एक कवि के रूप में निराला को प्रतिष्ठा उसने की थी । "मतवाला" के प्रत्येक अंक का मुखपृष्ठ निराला की कविता से अलंकृत था । "मतवाला" में प्रकाशित कविताओं व आलोचनाओं के माध्यम से निराला ने द्विवेदीयुगीन काव्यों तथा काव्य भाषा की रूढिवादिता का विरोध किया था ।

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, 1969, पृ. 80.

हंस

"हंस" हिन्दी की एक सम्मानित साहित्यिक पत्रिका थी । वह प्रगतिशील चिंतन-पद्धति का हिमायती पत्रिका भी थी । मार्च 1930 ई. में काशी से प्रेमचंद के संपादन में उसका प्रकाशन शुरू हुआ । "हंस" का परिवेश पराधीन भारत था । इस पर प्रेमचंद ने खुद लिखा था -"हंस के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है जब भारत में नये युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेडियों से निकलने के लिए तडपने लगा है ।"[1] यों "हंस" के प्रकाशन के मूल में आज़ादी की आकांक्षा छिपी हुई थी और परतंत्रता की कठिन जंजीरों से भारतवासियों को मुक्त करना उसकी प्राथमिक अपेक्षा थी । इस तथ्य पर ज़्यादा ज़ोर देते हुए प्रेमचंद ने आगे लिखा था -"भारत में शांतिमय समर की भेरी बजा दी है । हंस भी मानसरोवर की शांति छोडकर अपनी नन्ही-सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिये हुए समुद्र पाटने, आज़ादी के जंग में योग देना चला है । समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत टूट रही है, लेकिन संघ-शक्ति ने उसका दिल मज़बूत कर दिया हैं ।"[2] "हंस"की राष्ट्रीय चेतना इस प्रस्ताव में मुखरित हुई है ।

"हंस" का राष्ट्रीय पक्ष अत्यधिक सबल था । उसने तत्कालीन विदेशी सत्ता के प्रति कठिन असंतोष प्रकट किया था और समय समय पर उनकी शासन नीतियों की निंदा भी की थी । प्रेमचंद "हंस"के पाठकों को स्वाधीनता आंदोलन के कार्यकर्ता बनाना चाहते थे ।[3] "हंस" के "हंसवाणी" स्तंभ का आयोजन इस विशेष उद्देश्य से हुआ था । हंस की निर्भीकता और साहस से

---

1. अमृतराय के "कलम का सिपाही" से उद्धृत, 1962, पृ. 454.
2. हंस, हंस का जन्म, प्रवेशांक, मार्च, 1930, पृ. 63.
3. रामबक्ष, प्रेमचंद, 1981, पृ. 74.

क्रुद्ध होकर अंग्रेज़ों ने कई बार उसके प्रकाशन स्थगित कर दिया था । तो भी "हंस" अपने महान उद्देश्यों पर अटल ही रहा । अगणित चुनौतियों के बावजूद उसने अपने विस्तृत सामाजिक व सांस्कृतिक दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वहण किया था । "हंस ने आधुनिक भारत में नये प्रकार के सामाजिक वर्गों के उदय की, किसानों, मज़दूरों के संगठित होने की तथा सामंती पूँजीवादी वर्ग से उसके संघर्ष की आवश्यकताओं को स्पष्ट किया ।"[1] उसकी सबसे शीर्षस्थ उपलब्धि यह थी कि पूरे हिन्दी-जगत में प्रगतिशील साहित्यिक पत्रकारिता के आंदोलन का सूत्रपात उसके द्वारा संभव हुआ था ।

आरंभिक दौर में "हंस" कहानियों के लिए खूब प्रसिद्ध थी । लेकिन तुरंत ही उसमें साहित्य की अन्य विधाओं को भी उचित स्थान दिया गया था । रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, प्रसाद, निराला, पंत, भगवतीचरण वर्मा, मखनलाल चतुर्वेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, जैनेन्द्र, सुभद्राकुमारी चौहान, अज्ञेय, भुवनेश्वर, अमृतलाल नागर, सरीखे तेजस्वी हस्ताक्षरों की रचनाएँ "हंस" में लगातार छपी जाती थीं । उसकी साहित्यिक उपलब्धियाँ असीम थीं । उसने परंपरा से प्राप्त ऊर्जा के सहारे, हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में नये उत्साह का सूत्रपात किया । भारत की विभिन्न भाषाओं के प्रतिभावान् रचनाकार "हंस" के सलाहकारी मंडल के सक्रिय सदस्य थे । इस वजह से भारत की विविध भाषाओं की स्तरीय कृतियाँ उसमें छपी थीं । यों हिन्दी पत्रिकाओं में "हंस" न केवल स्वाधीन वाणी एवं लेखनी का दूत बना, वरन् हिन्दी में सभी भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं और उनके लेखकों को ××××××× ×××××××

---

1. राजेश्वर सक्सेना, इतिहास विचार धारा और साहित्य, 1983, पृ. 130.

प्रकाशित करके वह सच्चे अर्थों में भारत-दूत बन गया था ।"[1] सन् 1935 आते आते "हंस" ने एक अखिल भारतीय पत्रिका की ख्याति प्राप्त की थी ।

"हंस" के कई विशेषांक प्रकाशित हुए थे । उनमें "काशी अंक; "आत्मकथा अंक", "द्विवेदी अभिनंदन अंक", "स्वदेशी अंक", "एकांकी व रेखाचित्र अंक" अधिक लोकप्रिय हैं । साहित्य की विविध विधाओं को पुष्ट करने में ये विशेषांक समर्थ हुए हैं और इन्होंने हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता को एक नया मोड दे दिया था ।

मधुकर

टीकमगढ से प्रकाशित "मधुकर" हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के नैरंतर्य की एक मज़बूत कडी है । सन् 1930 ई. में बनारसीदास चतुर्वेदी उसके संपादक नियुक्त हुए थे । तबसे लेकर "मधुकर" में नयी चेतना का संचार होना आरंभ हुआ था । "मधुकर" की राजनीतिक और सांस्कृतिक भूमिका विपुल थी । अपने युग की साहित्यिक गतिविधियों में भाग लेने के साथ ही, उसने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रेरित भी किया था । "मधुकर" की राष्ट्रीय दृष्टि अपेक्षाकृत तीखी थी । इसलिए वह अंग्रेज़ों से कई बार पीडित हुआ था और उसका प्रकाशन भी आठ वर्ष के लिए स्थगित किया गया था । "मधुकर" अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का हिमायती था । उसमें विभिन्न विषयों के लेख छपे थे जैसेकि इतिहास, पुरातत्व, जातिवाद, स्त्री-शिक्षा, कला इत्यादि । ये "मधुकर" के सांस्कृतिक बोध को साफ करते हैं । "मधुकर" के एकाध विशेषांक निकले हैं जिनमें "पत्रकारिता अंक" का ऐतिहासिक गौरव है ।

---

1. डॉ. गंगानारायण त्रिपाठी, हिन्दी पत्रकारिता और गद्यशैली का विकास, 1987, पृ. 28.

जागरण

शिवपूजन सहाय हिन्दी के बड़े अनुभवी संपादक एवं साहित्यकार थे । उनके संपादन में ।। फरवरी ।932 में काशी से प्रकाशित "जागरण" उस ज़माने की एक सम्मानित साहित्यिक पत्रिका थी । "जागरण" की मूलचेतना का स्पर्श करते हुए शिवपूजन सहाय ने लिखा था -"हममें न कोई चमत्कारपूर्ण प्रतिभा है, न कोई विलक्षण शक्ति है । केवल है औढरदानी विश्वास का अटल भरोसा जिसकी सावधानी से यह "जागरण" प्रकट हो रहा है । उसकी प्रेरणा है, वही से संभाले ।"[1] "जागरण" में इस विचार का ठीक पालन हुआ था ।

"जागरण" अपने प्रकाशन के छः महीने के बाद साप्ताहिक पत्र के रूप में निकलने लगा । 22 अगस्त ।932 ई. में प्रेमचंद उसके संपादक नियुक्त हुए । प्रेमचंद के संपादकत्व में "जागरण" में अनेक परिवर्तन आये और उसमें अनेक प्रगतिशील तत्व समाहित हुए । उसकी राजनीतिक दृष्टि अधिक स्पष्ट हो गयी । वह सत्ता के खिलाफ था "जागरण" के 26 अक्तूबर ।932 ई. के अंक में "उसका अंत" नामक एक कहानी छपी थी जिसके लेखक थे श्यामधारी प्रसाद । अंग्रेज़ी शासक को वह कहानी घोर आपत्तिजनक लगी । इसलिए उसने एक हज़ार की जमानत "जागरण" से तथा एक हज़ार की जमानत प्रेस से माँगी ।[2] इस घटना ने पूरे सांस्कृतिक वातावरण में एक नयी राजनीतिक जागृति पैदा की थी ।

।. जागरण, वर्ष ।, अंक ।2, जुलाई ।932, संपादकीय पृष्ठ.

2. डॉ. लक्ष्मीकांत पाण्डेय (सं), प्रेमचंद साहित्य संदर्भ (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के लेख "एक पत्रकार का आत्मसंघर्ष" से उद्धृत), ।98।, पृ. 34.

"जागरण" में बहुत-से स्तंभों का आयोजन हुआ था । उनके अन्तर्गत तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यक्रमों की नियमित मीमांसा होती थी । प्रेमचंद का "क्षण भर" उनमें से प्रमुख था । "जब स्वतंत्रता-संघर्ष अपनी जवानी पर था उस युग के समाचारों, टिप्पणियों, विचारों, लेखों और अन्यान्य सामग्री से परिपूर्ण "जागरण" हिन्दी पत्रकारिता में ओज का अक्षर सत्य करनेवाला पत्र था ।"[1] साहित्य के क्षेत्र में सौहार्द और पारस्परिकता को प्रतिष्ठित करते हुए उसने हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के अनूठे आदर्श को प्रस्तुत किया ।

यद्यपि राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम के दौर की अधिकांश साहित्यिक पत्रिकाएँ तत्कालीन राजनीतिक आंदोलनों से प्रेरित थीं तो भी कुछ पत्रिकाएँ ऐसी भी थीं जो अपने तमाम राष्ट्रीय सरोकार के बावजूद साहित्य को सर्वप्रमुख स्थान देती आ रही थीं । उनमें से "विशाल भारत" और "रंगीला" के नाम विशेष रूप से चर्चित हैं ।

विशाल भारत

बनारसीदास चतुर्वेदी, गाँधीयुगीन चेतना के विशिष्ट पत्रकार थे । "विशाल भारत" चतुर्वेदी द्वारा संपादित एक उच्चस्तरीय मासिक पत्रिका थी । सन् 1928 में कलकत्ता से "विशाल भारत" का प्रकाशन हुआ था । उसके प्रकाशक थे रामानन्द चट्टोपाध्याय । अपने राजनीतिक दायित्वबोध के रहते हुए भी पाठक वर्ग की साहित्यिक चेतना को उद्दीप्त करना उसका मुख्य उद्देश्य था । अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पर उसकी अटल आस्था थी ।

---

1. रत्नाकर पाण्डेय, प्रेमचंद द्वारा संपादित जागरण साप्ताहिक, नई धारा, जून-जुलाई 1976, पृ. 11.

"विशाल भारत" का अपना साहित्यिक महत्व था । उसमें साहित्य की नवीनता के प्रति अथाह श्रद्धा थी । उसकी ओर से नये लेखकों को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था । वह अनेक साहित्यिक विवादों व संवादों का खुला मंच था । उस दौर की प्रायः सभी साहित्यिक पत्रिकाओं ने उन विवादों व संवादों में बड़े जोश के साथ भाग लिया था । पांडेय बेचन शर्मा उग्र की कहानी की अश्लीलता को लेकर "विशाल भारत" में चर्चाएँ हुई थीं ।[1] महावीर प्रसाद द्विवेदी और बालमुकुन्द गुप्त की शब्दों के व्याकरण की नोकझोंक भी काफी प्रसिद्ध थी ।[2] इस विषय को लेकर "हिन्दी बंगवासी" जैसे तत्कालीन अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने असंख्य बहसें चलायी थीं ।

"विशाल भारत" की संभावनाएँ असीम थीं । हिन्दी की परवर्ती साहित्यिक पत्रकारिता उससे अत्यंत लाभान्वित थी । "विशाल भारत" अनेक साहित्यिक विशेषांक प्रकाशित हुए थे । उनमें कहानी अंक (जनवरी 1933) और यात्रा अंक (जुलाई 1933) और कला अंक (1934) खूब चर्चित थे । इन विशेषांकों ने साहित्य के प्रति एक स्वस्थ पाठकीय रुचि को उत्पन्न किया था । "विशाल भारत" के विशेषांकों से प्रेरित एवं प्रभावित होकर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने भी विशेषांक निकालने की सार्थक पहल की थी । निराला, प्रेमचंद, दिनकर, राहुल सांकृत्यायन, बालकृष्ण राव जैसे तत्कालीन ओजस्वी रचनाकारों की बहुत-सी रचनाएँ "विशाल भारत" में मुद्रित हुई थीं । इनके अतिरिक्त बनारसीदास चतुर्वेदी के विचारोत्तेजक अग्रलेखों तथा आलेखों से "विशाल भारत" के पृष्ठ पुष्ट हुए थे । वह अन्ततोगत्वा चतुर्वेदी की संपादकीय प्रतिभा का सही निदर्शन था ।

---

1. डॉ. त्रिभुवन सिंह (सं), साहित्यिक निबंध (डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र के लेख "हिन्दी पत्रकारिता की साहित्यिक पृष्ठिका" से उद्धृत), 1976, पृ. 1062.
2. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास और जनसंचार माध्यम, 1988, पृ. 118.

साहित्य के सिवा इतिहास और भाषा विषयक कई सामग्रियाँ "विशाल भारत" में प्रकाशित हुई थीं । हिन्दी पत्रकारिता के उत्भव एवं विकास पर अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मीनारायण गर्दे, व्रजेन्द्र बन्दोपाध्याय, विष्णुदत्त शुक्ल सरीखे मनीषी पत्रकारों व इतिहासलेखकों के बहुत-से लेख "विशाल भारत" में छपे थे जिनसे हिन्दी पत्रकारिता के उषाकाल से संबंधित अनेक ऐतिहासिक सूचनाएँ प्राप्त हुई थीं । अज्ञेय और श्रीराम शर्मा के संपादक-जीवन का आरंभ "विशाल भारत" से हुआ है ।

रंगीला

निराला के विद्रोही व्यक्ति से प्रभावित दूसरी साहित्यिक पत्रिका थी "रंगीला" । कलकत्ता से 4 जून 1932 में उसका प्रकाशन आरंभ हुआ । यद्यपि "रंगीला" का परिवेश भारत के राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन का था फिर भी विशेष साहित्यिक लक्ष्यों को लेकर उसका आयोजन किया गया था । "रंगीला" अपने समय की एक सृजनात्मक धडकन थी । उसमें अनुभूति के विभिन्न क्षणों की तलाश थी । निराला के तरल व्यक्तित्व-पद्य की छाप सबसे अधिक "रंगीला" में पडी थी । "दहाड" और "छायाचित्र" रंगीला के दो स्तंभ थे जिन्हें निराला ने संचाल किया था । "दहाड" के अन्तर्गत तत्कालीन, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों पर घोर टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई थीं । "छायाचित्र" एक फिल्मी स्तंभ था जो उस ज़माने के फिल्मों की शवपरीक्षा के लिए विशेष कर गढा गया था । छोटी उम्र में ही "रंगीला" की समाधि हुई थी । उसके कुछ चार अंक निकले थे । तो भी प्रगतिशील साहित्यिक पत्रिकाओं की सूची में इस लघु साप्ताहिक को भी उचित स्थान प्राप्त है ।

---

1. कृष्णबिहारी मिश्र, पत्रकारिता इतिहास और प्रश्न, 1993, पृ. 89.

भारत के राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम का समय राजनीतिक दृष्टि से गाँधी युग था । इस युग की साहित्यिक पत्रिकाओं का राजनीतिक पक्ष ज़्यादा प्रबल था । वे असल में भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की निर्मितियाँ थीं । अतएव राष्ट्रीय-मुक्ति आंदोलनों को दिशा देना और भारतवासियों को राष्ट्रीय आंदोलनों की तरफ प्रवृत्त करना उनके आधारभूत उद्देश्य थे । इस दौर की साहित्यिक पत्रिकाओं ने इन कार्यों का दायित्वपूर्ण निर्वहण किया था । उनमें से अधिकतर पत्रिकाएँ, जैसे कि "हंस" और "मतवाला" गाँधीजी की राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित थीं । उन्होंने गाँधीजी के विचारों के आधार पर ही अपनी राजनीति का आयोजन किया था । हिंसा और आदर्श के मूल्यों को लेकर उन्होंने भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलनों का समर्थन किया और पाठक समूह को राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में भाग लेने को प्रेरणा दी ।

हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रगतिशील व जनधर्मी चेतना का उत्कर्ष इस अवधि की साहित्यिक पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ था । साहित्य में प्रतिबद्धता का सवाल भी इन्हीं पत्रिकाओं ने उठाया था । उनके द्वारा साहित्य और समाज की पारस्परिकता की स्थापना हुई थी । तत्कालीन पत्रिकाओं ने साहित्य के केन्द्र में साधारण मनुष्य को प्रतिष्ठित किया था । फलत: साहित्य में मनुष्य की आवाज़ को स्थान मिला । उनके माध्यम से ही साहित्य को साहित्येतर विषयों से जोड़ने का क्रम आरंभ हुआ था । "हंस" का काशी अंक, "विशाल भारत" का कला अंक और "मधुकर" का "पत्रकारिता अंक" इसके उदाहरण हैं । उन्होंने सांप्रदायिकता, जातिवाद, जैसी सामयिक समस्याओं के वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करने की परंपरा की पहल भी की थी । इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से आज समकालीन लघुपत्रिकाओं पर राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामकालीन साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रभाव सर्वोपरि रहा है ।

आधुनिक लघुपत्रिकाएँ

हिन्दी में सन् 1947 से लेकर सन् साठ तक की अवधि को सामान्यतया आधुनिकता का दौर कहते हैं । यह समकालीनता की पूर्वपीठिका है । हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस काल का विशेष महत्व है । इस काल के पूरे साहित्यिक वातावरण में व्यक्तिवादिता और सामाजिकता, प्रयोगशीलता और प्रगतिशीलता तथा सौन्दर्य मूल्य और सामाजिक मूल्य के बीच संघर्ष और सहयोग के अनेक चित्र उपलब्ध हैं । समीक्ष्य काल की साहित्यिक लघुपत्रिकाओं में भी यही स्थिति द्रष्टव्य है । वस्तुत: आधुनिकता के दो संदर्भ होते हैं रचना-संदर्भ और जीवन-संदर्भ । इस दृष्टि से आधुनिक लघुपत्रिकाओं की दो विशेष प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं - आधुनिकतावादी प्रवृत्ति और आधुनिक बोध की प्रवृत्ति । आधुनिकतावाद में "आधुनिकता" एक सृजनात्मक दर्शन है और आधुनिक बोध में आधुनिक जीवन-परिस्थिति का समग्र ज्ञान है ।

आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाएँ

हिन्दी साहित्य के आधुनिकीकरण में आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाओं की महती भूमिका है । वे साहित्य के सौंदर्य मूल्य को सर्वोपरि मानती थीं और उनमें रचना की प्रतिबद्ध प्रवृत्ति कम मात्रा में उपलब्ध होती थी । आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाओं में अन्य कलाओं के सूक्ष्म तत्व समाहित थे । उन्होंने एक विशिष्ट मानव की कल्पना की थी जो लघुमानव था । वे उसके माध्यम से साहित्य, जीवन एवं घटनाओं को ताकती थीं और उनपर बहस करती थीं ।[1] लघुमानव के विवेक, आस्था, आज़ादी, सृजनशीलता और भविष्य उनकी चिंता के विषय थे ।

---

1. विजयदेवनारायण साही, "लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस", नयी कविता, अंक 5-6, 1960-61, पृ. 64.

आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाओं ने व्यक्ति के आत्मसंघर्ष के कई क्षणों को दर्शाया है । उनके लिए व्यक्ति-मूल्य और व्यक्ति-स्वातंत्र्य बेहतर थे । वे बारम्बार समाज की परिभाषा व्यक्ति के समूह के रूप में करती थीं । आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाओं के सृजन-मूल्य की अवधारण इस द्वन्द्व के आधार पर की गयी है जिसपर पश्चिमी "माडर्निज़्म" का प्रभाव पडा है ।

आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाओं में अपेक्षाकृत कविता को ज़्यादा प्रधानता दी गयी है । क्योंकि आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाओं के अधिकांश संपादक स्वयं कवि थे जैसेकि, अज्ञेय, रघुवीरसहाय, श्रीकांतवर्मा, जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही आदि । वे उनकी सृजनात्मक अभिरुचि से प्रेरित थीं । इस दौर में लघु पत्रिकाएँ ऐसी भी थीं जो पूर्णतया कविता केन्द्रित थीं । "नयी कविता", "कविताएँ", "कविता", "अकविता" सरीखी पत्रिकाएँ इसके उदाहरण हैं । इन सबके फलस्वरूप इस अवधि में कविता और काव्यालोचना का अधिकतर विकास हुआ । तत्कालीन आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाओं ने कविता पर असंख्य बहसें चलायी हैं और नयी कविता के अनेक रूपों को सामने रखा है । अकविता, सनातन-सूर्योदयी कविता, युयुत्सु कविता, नव कविता, निर्दिशायामी कविता, ताज़ी कविता, भावि कविता आदि कुछ ऐसे समीक्ष्यकालीन काव्यांदोलन हैं जिन्हें क्रमश: "अकविता", "भारती", "युयुत्सु", "कविता", "लय", "क.ख.ग", "नव्य कविता" जैसी लघुपत्रिकाएँ नेतृत्व कर रही थीं ।[1] इन आंदोलनों की बाढ में साहित्य की अन्यविधाएँ थोडी-सी उपेक्षित हुईं ।

---

1. जगदीशगुप्त, "नयी कविता किसिम मिसिम की कविता", नयी कविता, अंक 8, 1966-67, पृ. 245-298.

आधुनिकतावादी लघुपत्रिकाओं का गठन और प्रकाशन विशिष्ट साहित्यिक उद्देश्यों से हुआ है । उनमें आधुनिक साहित्य की कुछ खास प्रवृत्तियों को स्थापित करने का मोह था । नवलेखन, सह-अनुभूति का तत्व, नव्य चिंतन, मानवतावाद, कलावाद, प्रयोगवाद आदि की स्थापना उनके द्वारा संभव हुई है । उनमें आयोजित परिचर्चाओं का मूल उत्स भी यही था । इनके समानांतर उन्होंने हिन्दी में नयी समीक्षा-पद्धति की नींव डाली और बडी मात्रा में कवि-आलोचकों को पंक्तिबद्ध करते हुए आलोचना-साहित्य को नये सृजनात्मक आयाम दिये ।

प्रतीक

सन् 1947 में पटना के कुछ साहित्यकारों के सहयोग से, आधुनिकता के शलाका-पुरुष अज्ञेय ने "प्रतीक" का प्रकाशन आरंभ किया । "प्रतीक" एक द्वैमासिक पत्रिका थी । सियारामशरण गुप्त, नगेन्द्र, श्रीपतराय और नेमीचन्द्र जैन उसके संपादक-मंडल के सदस्य थे । वस्तुतः हिन्दी में आधुनिक साहित्य का सूत्रपात "प्रतीक" ने किया । प्रयोगवाद की शुरूआत "प्रतीक" से[1] माना जाता है और उसके द्वारा प्रयोगवाद को बल प्राप्त हुआ था । "प्रतीक" ने हिन्दी में एक नये साहित्य मूल्य का निर्माण किया जो उदात्त सौन्दर्यबोध पर आधारित था । उसने संघर्ष को एक रचनात्मक प्रेरणा के रूप में स्वीकारा था । "प्रतीक" कई दृष्टियों से परंपरा से कटा हुआ था । लेकिन उसके लिए परंपरा से कटना, अतीत से अलग होना नहीं । प्रगति मर्यादाओं को प्रसृत करके उदार बनाने में है । वह हिन्दी की उभरती हुई साहित्यचेतना का मुख पत्र था ।[2] उसमें अज्ञेय के संपादक-व्यक्तित्व का प्रतिबिंब होता था ।

---

1. डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, 1982, पृ. 107.
2. डॉ. नगेन्द्र (सं), हिन्दी साहित्य का इतिहास (महेन्द्र चतुर्वेदी/प्रेमचंद चंदोला के लेख "छायावादोत्तर काल" से उद्धृत), 1994 (तेईसवाँ संस्करण), पृ. 741.

"प्रतीक" ने हिन्दी में साहित्यिक लघु-पत्रकारिता की जो मार्ग प्रशस्त किया उसको समकालीन लेखकों ने विस्तृत किया है ।

कहानी

आधुनिकता के दौर में कम लघु पत्रिकाएँ ऐसी हुई थीं जिनमें कहानी को प्रमुख स्थान दिया गया था । इस क्षति की पूर्ति के लिए और हिन्दी कथा-साहित्य को विकसित करने के लिए "कहानी" का प्रकाशन आरंभ हुआ था । वह एक कहानी केन्द्रित लघुपत्रिका थी । सन् 1953 में इलाहाबाद से उसका पहला अंक निकला था । उसके संपादक श्रीपतराय और सतीश जमाली थे । "कहानी" के लंबे अर्से तक हिन्दी कहानी को प्रोत्साहित और दिशा-निर्देशित किया था । वह नयी कहानी की प्रगति-यात्रा और समकालीन कहानी के उत्थान-पर्व की साक्ष्या थी । यद्यपि "कहानी" में बहुत-सी गैर-आधुनिकतावादी कहानियाँ प्रकाशित हुई है, फिर भी "कहानी" की अपनी दृष्टि आधुनिकतावादी थी ।

"कहानी" ने तत्कालीन कहानी के साथ एक सीधा संबंध स्थापित किया था । उसमें कहानी की सृति और गति की अन्वेषणा थी । कमलेश्वर, रमेश बक्षी, गुरूबचन सिंह, रमेश उपाध्याय, हृषिकेश, हिमांशु जोशी, शशिप्रभा शास्त्री, मणिकामोहनी, आदि की तर्जनियों से "कहानी" लगातार लाभान्वित थी । रमेशचन्द्र शाह, धनंजय वर्मा आदि के लेख उसको नये आयाम दिये थे । "कहानी की बात" कहानी का एक विशिष्ट संपादकीय स्तंभ था जिसके अन्तर्गत कहानी के विभिन्न संदर्भों का विश्लेषण होता था । उसमें कला {कहानी} के सामाजिक रिश्ते का विवेचन यों किया गया था - कला का समाज से अटूट संबंध है । पर कला किसी एक व्यक्ति द्वारा सृजित होती है और

उस सीमा तक यह एक निज प्रक्रिया हैं । यह प्रक्रिया सामाजिक अनुशासन से मुक्त होना चाहिए ।"[1] यह "कहानी" की रचना-दृष्टि का द्योतक था । "कहानी" का "कथा-यात्रा" स्तंभ समसामाजिक कहानी की ताज़ी समीक्षा का स्थायी स्तंभ था जिसका कहानी के विभिन्न मोड़ों पर बड़ा असर था । यों हिन्दी कहानी के इतिहास-लेखन में "कहानी" का विशेष आदर है ।

नयी कविता

"नयी कविता" हिन्दी की ऐसी एक साहित्यिक पत्रिका थी जिसने हिन्दी में नयी कविता को प्रतिष्ठित किया । मानव की असीम सामर्थ्य पर प्रगाढ आस्था- यही उसकी मूल चेतना थी । सन् 1954 में, हिन्दी में मशहूर कवि-आलोचक जगदीश गुप्त के संपादन में "नयी कविता" का पहला अंक निकला था । उसे स्वयं "साहित्यकारों का एक सहकारी प्रयास"[2] कहा गया है । सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा सरीखे कवियों के साहित्यिक और आर्थिक सहयोग से वह कृतज्ञ थी ।

"नयी कविता" का कलह जो था वह पूर्ववर्ती काव्य मूल्यों व काव्य-मान्यताओं के खिलाफ था । वह पश्चिमी आधुनिकता से बहुत कुछ प्रेरित थी । "नयी कविता" की "एजेंटा" का प्रथम कार्यक्रम नयी कविता को एक आन्दोलनात्मक वेग देने का था । "नयी कविता" के प्रत्येक अंक में लिखे गये जगदीश गुप्त के लंबे-लंबे संपादकीय लेख नयी कविता के स्वरूप व संवेदना को परिभाषित करने में उपयोगी सिद्ध हुए थे । साथ ही, अपने समय के मनीषी

---

1. कहानी, वर्ष 16, अंक 2, 1969, पृ. 8.
2. नयी कविता, अंक 1, 1954, पृ. 2.

कवियों द्वारा रचित अनेक आलेख भी उसमें मुद्रित थे जिनसे पाठक समूह की संवेदना के आयाम विकसित हुए थे । इन सबके फलस्वरूप नयी कविता का एक स्वस्थ दर्शन सामने आया ।

"नयी कविता" का प्रत्येक अंक नयी कविताओं का व्यवस्थित और अव्यवसायिक संकलन था । "नयी कविता" का "परिचय" स्तंभ अनेक प्रतिभावान कवियों को प्रतिष्ठित करने में मददगार हुआ था । इसके अन्तर्गत लक्ष्मीकांत वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कुंवरनारायण, विपिनकुमार अग्रवाल आदि की कविताएँ छपी थीं । धर्मवीर भारती के विश्रुत काव्य "कनुप्रिया" और "अन्धायुग" के अंश पहले पहल "नयी कविता" में प्रकाशित हुए थे ।[1] मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे जैसे विचारवान् कवियों के दर्शन तथा काव्य को भी उसमें स्थान दिया गया था । इस तरह "नयी कविता" ने नयी कविता के प्रयोग व प्रगति के तत्वों को आत्मसात् करते हुए एक वाद-मुक्त संवेदना को रूपायित करने का प्रयास किया था ।

हिन्दी कविता के स्तर पर सह-अनुभूति के सवाल को "नयी कविता" ने उठाया था । उसकी आस्था थी कि नये साहित्य का आस्वादन रस-अनुभूति के आधार पर नहीं सह-अनुभूति के आधार पर होता है । इस बात को लेकर पूरे साहित्यिक परिदृश्य में गंभीर विवाद उत्पन्न हुए थे । उसमें नयी रचनात्मकता पर अनेक परिचर्चाएँ आयोजित की गयी थीं जिनमें "नयीकविा वर्तमान स्थिति",[2] "आधुनिकता:स्वरूप और प्रयोजन,"[3]

---

1. जगदीश गुप्त, नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ, 1971 (द्वितीय संस्करण), पृ. 3.
2. नयी कविता, अंक 5-6, 1960-61, पृ. 23-63.
3. नयी कविता, अंक 7, 1963-64, पृ. 25-70.

"कविता के नये प्रतिमान"[1] आदि प्रमुख थीं । अंतत: "नयी कविता "कविता और संवेदना के आधुनिकोकरण की युग-प्रेरित कोशिश थी ।

कृति

श्रीकांत वर्मा और नरेश मेहता के संयुक्त संपादन में प्रकाशित "कृति", आधुनिकता की अवधि की एक श्रेष्ठ लघुपत्रिका थी जिसने समसामयिक साहित्यांदोलनों पर काफी प्रभाव छोडा था । सन् 1958 में उसका प्रकाशन कार्य आरंभ हुआ था । "कृति" एक मासिक पत्रिका थी । उसकी मूल स्वर विरोध का था । आरंभिक दौर में अज्ञेय की पत्रिका "प्रतीक" के साथ उसकी मुठभेड हुई थी और वह अज्ञेय की विचारधारा के विरुद्ध थी । उसने प्रगतिवादियों के प्रति भी कठिन असंतोष प्रकट किया था । वस्तुत: "कृति" नवलेखन की समर्थक पत्रिका थी । "कृति" से हिन्दी में नवलेखन का आंदोलन चला था ।[2] उसने, यों अपने को प्रगतिवाद और प्रयोगवाद से अलग किया ।

"कृति" दीर्घजीवि पत्रिका नहीं थी । रचना के अभिनवीकरण पर उसकी बडी आस्था थी । उसने आधुनिक साहित्य में नयी सौंदर्यानुभूति का परिचय दिया और आस्वादन के नये प्रतिमानों को निर्मित किया । "कृति" की रचना-दृष्टि अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर झुकी हुई थी । उसमें मानवतावादी आस्था और मानव-स्वातंत्र्य को सर्वाधिक महत्व दिया गया था । अन्ततोगत्वा वही कृति के सृजन-अभियान का उद्देश्य था । "कृति" ने हिन्दी में जिस नये साहित्यांदोलन का -"नवलेखन" का - सूत्रपात किया था उसे "कल्पना",

---

1. नयी कविता, अंक-8, 1966-67, पृ. 218-244.
2. डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, 1982, पृ. 105.

"ज्ञानोदय", "लहर", "अणिमा" जैसी पत्रिकाओं ने जारी रखा ।

आधुनिकबोध की लघुपत्रिकाएँ

आधुनिकबोध की लघुपत्रिकाएँ हिन्दी के आधुनिक साहित्य का उत्तरकाण्ड हैं । आधुनिकता की अभिधा और व्यंजना की अर्थ-पूर्ति इनके सहारे संभव हुई है । ये पत्रिकाएँ युगीन चेतना से काफी प्रेरित हैं । "युगीन चेतना फैशनदनक्श ओढी हुई कोई चीज़ नहीं, वह ऐतिहासिक संदर्भ में पूरे समाज के जीवन मूल्य और प्रणाली को प्रभावित करनेवाली नवीन शक्ति है ।"[1] ये अपेक्षाकृत जीवनोन्मुखी हैं । इनमें जीवन को अपनी समग्रता में समेटने की कोशिश है और जीवन-यथार्थ के विभिन्न पहलुओं की पहचान भी है । आधुनिकबोध की लघुपत्रिकाओं ने पाठक को जीवन की कुरूपताओं व चुनौतियों से अवगत कराते हुए उनका सही सामना करने की प्रेरणा दी हैं ।

आधुनिकबोध की लघुपत्रिकाओं में अनेक प्रगतिशील तत्व मौजूद हैं । समाज की क्रिया-कलापों से उनका नितांत संपर्क है । अतएव उनमें सदा विषय की अनेकता दिखाई देती है । आधुनिक बोध की लघुपत्रिकाओं में रचना एक सामाजिक उत्पाद है और समय एवं समाज की महान प्रेरणाओं से उसकी निर्मिति होती है । इसी वजह से उन्होंने रचना की सामाजिक प्रतिबद्धता और सरोकार के सवाल को कई बार उठाया है ।[2] आधुनिकबोध की अनेक लघुपत्रिकाओं ने प्रतिबद्धता पर बहस और परिचर्चाएँ आयोजित की हैं ।[3]

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र, आधुनिक हिन्दी कविता सर्जनात्मक संदर्भ, 1986, पृ. 9.
2. प्रमोद सिन्हा, प्रतिबद्धता नयी दृष्टि, कल्पना, मार्च 1969, पृ. 69.
3. संदर्भ, प्रतिबद्धता विशेषांक, मई 1965.

रचना के वस्तुपक्ष और सामाजिक मूल्य को सर्वोपरि मानने के बावजूद उनमें रूपवाद एवं सौंदर्य मूल्य की तिरस्कृत नहीं हुई है । अज्ञेय, श्रीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, जैसे प्रतिष्ठित आधुनिकतावादी कृतिकारों के कई काव्य और लेख उनमें पढने को मिलते हैं । यों आधुनिक बोध की लघुपत्रिकाओं में संघर्ष से बढ़कर समन्वय की प्रवृत्ति दीखती है ।

आधुनिकबोध की लघुपत्रिकाओं में राजनीति की उपेक्षा नहीं हुई है । उन्होंने राजनीति को सृजनात्मक उत्स के रूप में ग्रहण किया है और कभी तो राजनीति पर सीधा हस्तक्षेप किया भी है । "कल्पना" का "चौथे आम चुनाव के बाद" विशेषांक इसका प्रमाण है । अधिकाधिक आधुनिक बोध की लघुपत्रिकाओं में समाजवादी चिंतन की प्रवृत्तियाँ द्रष्टव्य हैं । उनपर राममनोहर लोहिया का व्यापक असर पडा है । "वातायन" और "लहर" के "लोहिया अंक" इस तथ्य को साबित करते हैं । साठवें दशक में आकर "कल्पना", "ज्ञानोदय", "माध्यम" जैसी पत्रिकाओं ने भी इसकी प्रतिश्रुति की है । यों आधुनिकबोध की लघुपत्रिकाएँ समकालीन लघुपत्रिकाओं के लिए अनुकूल परिवेश तैयार करने में सफल हुई हैं ।

ज्ञानोदय

"ज्ञानोदय" आधुनिकता के दौर की श्रेष्ठतम साहित्यिक पत्रिका थी जिसकी आयु अपेक्षाकृत लंबी थी । स्वयं "ज्ञानोदय" ने उसे "आधुनिक भावबोध, कला, संचेतना और नवीनता का प्रतिनिधि मासिक" कहा था । "ज्ञानोदय" का प्रकाशन सन् 1949 में कलकत्ता से आरंभ हुआ था । लक्ष्मीचन्द्र जैन, शरद देवडा, रमेश बक्षी आदि उसके संपादक थे । वह अपने ज़माने के तमाम रचनाकारों की तर्जनियों से प्रभावित रहा था । विद्यानिवास मिश्र, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अश्क, प्रभाकर माचवे, कुंवरनारायण, धर्मवीर भारती, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, हंसराज रहबर आदि उसमें लगातार

लिखते थे । कविता, कहानी, आलोचना के साथ-साथ एकांकी, संस्मरण, यात्रावृत्तांत, चित्रकला, फिल्म, राजनीति एवं विज्ञान को भी "ज्ञानोदय" में प्रमुखती दी गयी थी । उसमें अनेक स्तंभों का आयोजन हुआ था । नामवर सिंह के स्तंभ, "नयी कविता पर क्षर भर" के माध्यम से समसामयिक काव्यालोचना को नयी दिशा मिली थी । कन्हैयालाल के "सह-चिंतन" में तत्कालीन विचारों, व्यवहारों, समस्याओं, समाधानों, घटनाओं, प्रेरणाओं के कई प्रसंग आये थे । "ज्ञानोदय"का कला संचेतना स्तंभ, विभिन्न कलाओं व प्रमुख कलाविदों की पहचान में खूब उपयोगी था । धर्मवीर भारती की यूरोप यात्रा की यादें छपकर "ज्ञानोदय"साहित्यिक पत्रकारिता का एक नया द्वार खोला था ।

"ज्ञानोदय" के कई विशेषांक निकाले थे जो उसकी वैषयिक अनेकता एवं रुचि विशेष की तरफ प्रकाश डाले थे । आधुनिकता अंक, नैतिकता अंक, संस्मरण अंक, प्रणय अंक, विज्ञान अंक, भारतीय इतिहास कथा अंक, भारतीय परिवार अंक, पत्रांक, नयी कलम अंक, समकालीन भारतीय कहानी अंक, महा-नगर अंक, वसंत अंक इत्यादि । ये कोरे विशेषांक नहीं बल्कि "ज्ञानोदय "की विशद-दृष्टि के दस्तावेज़ थे ।

"ज्ञानोदय" का साहित्यिक महत्व असीम है । वह नवलेखन की प्रतिनिधित्व करती थी । उसके साहित्यिक चिंतन का आधार यांत्रिक सभ्यता में खोता मनुष्य था । उसने साहित्य के क्षेत्र में कई नये लेखकों को अवतरित किया । इस विषय पर उसका दृष्टिकोण था -"हम तो यह अनुभव करते हैं कि "ज्ञानोदय" के माध्यम से नये लेखक, लेखकों की एक बडी बिरादरी में शामिल हो जाते हैं । फिर वे उस वातावरण से कुछ पाते चलते हैं और अपना

रास्ता आप बना लेते हैं ।"[1] विदेशी साहित्य पर ज्ञानोदय की बडी रुचि थी । भाषा को लेकर भी ज्ञानोदय एकाध चर्चाएँ चलाती थीं जिनमें काव्य भाषा विषयक परमानंद श्रीवास्तव का लेख काफ़ी ज़ोर पकडा था ।[2] यों "ज्ञानोदय" ने साहित्य सहित पाठकवर्ग की कलात्मक, सांस्कृतिक व वैज्ञानिक रुचि को बढोत्तरी देने का महान कार्य किया है ।

कल्पना

सन् 1949 में हैदराबाद से प्रकाशित "कल्पना" एक ऐसी साहित्यिक पत्रिका थी जो लंबे अर्से से हिन्दी की सृजनधर्मिता को पुष्ट और प्रोत्साहित करती आयी थी । मधुसूदन चतुर्वेदी, बदरीविशाल पित्ती और मुनीन्द्र उसके संपादक थे । हिन्दी में नवलेखन को प्रतिष्ठा देने में "कल्पना" की महान भूमिका थी । नवलेखन पर "कल्पना" के एकाधिक विशेषांक निकाले थे जिनमें शिवप्रसाद सिंह द्वारा संपादित सन् 1968 का अंक अवश्य उल्लेखनीय है ।

अज्ञेय का "सभा प्रसंग" और हरिशंकर परसाई का "और अंत में" कल्पना के दो ख्यातिप्राप्त स्तंभ थे । साहित्य और संस्कृति से जुडे हुए अनेक महत्वपूर्ण संदर्भों को उनमें उभारा गया था । "साहित्य धारा" के अन्तर्गत प्रयाग शुक्ल और कांता द्वारा क्रमशः समसामयिक कहानी और कविता की आलोचना की जाती थी । ओमप्रकाश दीपक के "लेख" के माध्यम से तत्कालीन साहित्यिक लघुपत्रिकाओं का मूल्यांकन करते हुए, "कल्पना" ने सहयोग व एकजुटता के उच्चतम साहित्यिक तथा सांस्कृतिक बोध को प्रकट किया था ।

---

1. ज्ञानोदय, संपादकीय, जुलाई 1966, पृ. 7.
2. परमानंद श्रीवास्तव, आज की कविता में भाषा, ज्ञानोदय, जून 1967, पृ. 49.

"कल्पना" में पत्रों को रचनात्मक साहित्य का गौरव प्राप्त था । तत्कालीन उदीयमान कलाधर्मियों के पत्रों के ज़रिए, "कल्पना" ने कई साहित्यिक व सांस्कृतिक आन्दोलन चलाये थे । "कल्पना" अवश्य स्तरीय साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका थी । इसमें कहानी और लेख छप जाना लेखक के लिए प्रतिष्ठा की बात मानी जाती थी ।[1] धूमिल, चन्द्रकांत देवताले, वेणुगोपाल, इब्राहीम शरीफ, जैसे समकालीन रचना-संसार के मेधावी कृतिकारों की आरंभिक रचनाएँ कल्पना में प्रकाशित हुई थीं । दुष्यंत कुमार के विश्रुत पद्यनाट्य "एक कंठ विषपायी" के प्रथम दो दृश्य "कल्पना" ने छपे थे ।[2] मुक्तिबोध की बहुत-सी रचनाएँ "कल्पना" के माध्यम से प्रकाश में आयी थीं ।

"कल्पना" ने साहित्य और अन्य कलाओं के बीच सहयोग की स्थिति स्थापित करने की नितांत कोशिश की थी । धीरेन्द्रनाथ वर्मा का आलेख "दर्शन, सौन्दर्य-चिंतन और भारतीय कला" इस तथ्य का प्रमाण है ।[3] भाषा, दर्शन, फिल्म जैसे विषयों पर भी उसकी रुचि रही थी । कल्पना मूलत: समाजवादी विचारधारा से प्रभावित पत्रिका थी । उसमें राममनोहर लोहिया की चिंतन पद्धति पर ज़ोर दिया गया था जिससे उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता विकसित हुई थी । "चौथे आम चुनाव के बाद" विशेषांक (1969) से कल्पना की राजनीतिक दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है । सन् सत्तर में आकर उसकी प्रगति-यात्रा नये मोड़ लेती दिखाई देती है ।

माध्यम

सन् 1965 में हैदराबाद से प्रकाशित "माध्यम" दक्षिणदेश की

---

1. डॉ. नगेन्द्र (सं), हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती, (अशोकजी/प्रेमनाथ चतुर्वेदी के लेख "पत्रकारिता" से उद्धृत), 1972, पृ. 422.
2. कल्पना, अक्तूबर 1963, पृ. 21.
3. वही, जुलाई 1968, पृ. 46.

दूसरी स्तीय साहित्यिक पत्रिका थी जिसने कम अवधि में ज़्यादा यश पाया था। सम्मानिक कवि और इतिहास मर्मज्ञ बालकृष्ण राव उसके संपादक थे । "माध्यम" का उद्देश्य हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी संस्कृति के प्रति अभिरुचि और आदर उत्पन्न करना तथा भाषा व साहित्य को आगे बढाने में सहायता देना था । वह साहित्य, भाषा और संस्कृति से संबद्ध विचार और सर्जन के क्षेत्रों में प्रत्येक ऐसी जीवन्त एवं गतिशील धारा के साथ था ।[1] "माध्यम" का विवेचना स्तंभ इतना चर्चित था कि "माध्यम" के बंद होने के बाद "कल्पना" ने उसे जारी रखा । नामवरसिंह, शिवप्रसाद सिंह, मलयज आदि के तर्क-बुद्धि और विचार उसमें निरंतर प्रतिबिंबित होते थे ।

"माध्यम" की दृष्टि कभी संकुचित नहीं थी और साहित्य की भाषायी सीमाओं पर वह प्राय: निश्चिंत था । वह बंगाली, गुजराती, मलयालम, तेलुगु जैसे सहवर्ती भाषा-साहित्य की तरफ काफी उदारशील था । "माध्यम" का "आन्ध्रा अंक" और "केरल अंक" इस बात को सही साबित करते थे । "माध्यम" हिन्दी सहित भारत के विभिन्न भाषाओं की चुनौतियों पर जागरूक था ।[2] "माध्यम" की जागरूकता समसामयिक रचनाधर्मिता के संदर्भ में भी दिखाई देती थी । उसने तत्कालीन कविता और कहानी की जाति व नीति की पहचान करने की पूरी कोशिश की थी । आधुनिकता और नवलेखन के परिप्रेक्ष्य में उसकी प्रासंगिकता की मीमांसा भी की थी ।[3,4] साथ ही रचना की अन्य विधाओं की प्रगति-यात्रा के विभिन्न क्षणों से भी वह अवगत था ।

---

1. माध्यम, अपनी बात, जुलाई 1965, पृ. 3-4.
2. भगीरथ मिश्र, भारतीय भाषाएँ विकास की समस्याएँ और समाधान, माध्यम, नवंबर 1965, पृ. 3.
3. बच्चनसिंह, कविता और नयी कविता, माध्यम, फरवरी 1965, पृ. 42.
4. परेश, कहानी की वर्तमान स्थिति, माध्यम, दिसंबर 1967, पृ. 37.

नयी संवेदना के रूपायन और संप्रेषण में यह बहुत कुछ सहायक निकला था ।

"माध्यम" सांस्कृतिक स्तर पर भी पर्याप्त सचेत था और उसने सृजनात्मकता के द्वारा विस्तृत स्तर पर सांस्कृतिक चुनौतियों का सामना करने का प्रयास किया है । उसने सामाजिक एवं धार्मिक पाखंडों का पर्दा उतारते हुए मानवतावाद के महत्व की रेखांकन किया था और दूसरी तरफ भारतीय बुद्धिजीवियों के आत्मपरायापन की प्रवृत्ति को साफ किया था । यों "माध्यम" ने हिन्दी में रचना, मानव तथा मुक्ति के कई सार्थक सवाल उठाये थे और साहित्यिक पत्रकारिता का एक परिमार्जित भाष्य रचा था ।

आधुनिक लघुपत्रिकाएँ हिन्दी के आधुनिक साहित्य की महान उपलब्धि हैं । उसकी अवधारणा के आधार में मुख्यत: चार तत्व कार्यशील रहे हैं - सद्यप्राप्त राजनीतिक आज़ादी से प्रेरित मानवमुक्ति संबंधी दर्शन, पश्चिमी आधुनिकता का विपुल ज्ञान, प्रगतिशील साहित्यिक चिंतन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास । इन पत्रिकाओं ने विवेच्य काल में अनेक साहित्यिक आंदोलनों को संचाला है जैसे कि नवलेखन, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, नयी कविता, अकविता आदि । आधुनिक लघुपत्रिकाएँ रचना की वस्तु और रूप संबंधी पूर्ववर्ती परिकल्पनाओं पर अनेक परिवर्तन लायी हैं । उन्होंने नये जीवनानुभवों, सौन्दर्यानुभूतियों एवं प्रयोजन संदर्भों का परिचय कराया है और साहित्य को कला के अन्य रूपों के साथ जोडकर पाठकवर्ग की संवेदनशीलता का कालोचित परिष्कार किया है । समग्रता में, आधुनिक लघुपत्रिकाओं ने रचना-धर्मिता के आयामों को विस्तृत करते हुए आस्वादन के नए क्षितिजों की अन्वेषणा की है और साहित्य में सौन्दर्य एवं प्रतिबद्धता संबंधी आधुनिक मूल्य-दृष्टि को रूपायित किया है ।

चतुर्थ अध्याय

समकालीन साहित्यिक लघुपत्रिकाओं के संवेदनात्मक आयाम

समकालीन लघुपत्रिका और संवेदना का बदलाव

जनचेतना की रचना में पत्र-पत्रिकाओं की अहम भूमिका है । भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी लोभ के खिलाफ जनमोर्चा के अभियान में तद्युगीन हिन्दी पत्रकारिता ने ऐतिहासिक हिस्सा लिया है जिनका परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है । उन दिनों अंग्रेज़ी की हुकूमत के विरुद्ध जनजागरण के सूत्रपात में हिन्दी की व्यावसायिक एवं गैर-व्यावसायिक पत्रिकाएँ एक साथ शामिल हुई हैं । वास्तव में व्यावसायिक पत्रिकाओं ने अंग्रेज़ियत के खिलाफ इसलिए स्वर उठाया था कि भारत के बाज़ार में इंग्लैंड में बने सामानों की उपस्थिति भारत के तत्कालीन उदीयमान बुर्जुआ या पूँजीपति वर्ग के हितों के अनुकूल नहीं थी ।[1] उसके ठीक विपरीत "कविवचनसुधा", "सरस्वती", "चाँद", "मतवाला", "हंस" सरीखी साहित्यिक (लघु) पत्रिकाओं ने शुद्ध सांस्कृतिक और सामाजिक लक्ष्यों को लेकर विदेशी सत्ता के विरोध में मुहिम चलायी थी । समकालीन लघुपत्रिका आंदोलन इस परंपरा का कालोचित विस्तार है ।

संख्या और स्तरीयता के आधार पर वर्तमानकाल हिन्दी की लघुपत्रिकाओं के लिए बसंत का दौर है । प्रकृति और संस्कृति की विविधता

---

1. सव्यसाची, लघुपत्रिका आंदोलन दशा और दिशा, लोकशासन, जून 1994, पृ. 5.

और अनेकता ने हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाओं का एक खास आकर्षण प्रदान किया है । परिणाम स्वरूप रचनाशीलता की प्रत्येक विधा एवं विचारधारा को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है और संवेदना के आयाम विस्तृत हुए हैं । समसामयिक लघुपत्रिकाओं के प्रकार-भेदों का अनुशीलन इस दिशा की अन्वेषणा में अवश्य उपयोगी है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं की सबसे बडी सांस्कृतिक विडंबना विचार और बाज़ार का संघर्ष है । विचार संस्कृति की मूलचेतना है । मानव-मात्र का सांस्कृतिक अतीत स्वयं इसका साक्षी है । हमारे इतिहास में विचार कभी बाज़ारू चीज़ नहीं रहा है । लेकिन साम्राज्यवाद और नवउपनिवेशवाद के बढते असर के साथ ××× ××××××× विचारों का व्यवसायीकरण का कार्य शुरू हुआ । साहित्य का व्यवसायीकरण सत्ता के सांस्कृतिक षड्यंत्र का नतीजा है और संस्कृति पर अपना अधिकार थोप देने की महज कोशिश है जिसके प्रति समकालीन लघुपत्रिकाएँ सचेत हैं । व्यवसायिक पत्रिकाएँ जहाँ साहित्य और संस्कृति को एक बाज़ारू चीज़ के रूप में देखती हैं वहाँ लघुपत्रिकाओं के साथ उनका गंभीर मुठभेड आरंभ होता है । इनके अतिरिक्त समकालीन लघुपत्रिकाओं ने उपर्युक्त संकट का सही सामना करने के उद्देश्य से धीरे-धीरे एक लेखकीय एवं पाठकीय जागरूकता को भी पल्लवित किया है ।

यद्यपि हिन्दी की तमाम लघुपत्रिकाएँ सांस्कृतिक स्तर पर एक सर्वनिष्ठ शत्रु की परिकल्पना कर चुकी हैं फिर भी विरोध और प्रतिरोध के जो तरीके उन्होंने अपनाये हैं वे अलग-अलग हैं । इनका आधार

लघुपत्रिका-संपादकों के विचार और संवेदन की भिन्नता है । अतएव अपने चरित्र और संस्कार का परिचय देने के लिए उन्होंने स्वयं "जनवाद की असली पत्रिका", "समकालीन लेखन का जीवन्त दस्तावेज़" जैसे आदर्श वाक्यों का प्रयोग किया है । इन पत्रिकाओं का अंदरूनी अध्ययन समकालीन लघुपत्रिकाओं की दो खास प्रवृत्तियों का परिचय देता है - शुद्ध साहित्यिक प्रवृत्ति और जनधर्मी प्रवृत्ति ।

वर्तमान दौर में हिन्दी में कुछ ऐसी साहित्य-केन्द्रित पत्रिकाएँ निकल रही हैं जिनमें शुद्ध साहित्यिक प्रवृत्ति दिखाई देती है । वे पत्रिकाएँ मुख्यत: सृजनात्मक साहित्य को प्रोत्साहित करती हैं । विभिन्न साहित्यिक वादों व आंदोलनों के प्रचार में उनके गौरवमयी सहयोग हैं । उन्होंने हिन्दी में अनेक साहित्यिक मूल्यों को निर्धारित किया है । उनमें समाज की तत्कालीन धड़कनों को जो पहचान और प्रतिक्रिया है वह अपेक्षाकृत सूक्ष्म होती है । उनकी सामाजिक चेतना एवं प्रतिबद्धता मात्र कविता, कहानी जैसी साहित्यिक विधाओं के माध्यम से सामने आती हैं । अत: ऐसी लघुपत्रिकाओं की सामाजिकता की समीक्षा सृजनात्मक स्तरों पर की जाती हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने अपनी प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में जनधर्मी प्रवृत्ति को उठाया है । हिन्दी की ज़्यादातर लघुपत्रिकाओं में यह प्रवृत्ति दर्शनीय है । जहाँ जनविरोधी पत्रिकाएँ श्रमजीवि जनता को रोमानियत, आध्यात्मवाद, व्यक्तिवाद और अन्धविश्वासों के द्वारा सुलाती है, धर्म और राजनीति के आधार पर उसे विभाजित करती हैं और

भाग्यवाद-नियतिवाद के द्वारा उसे निष्क्रिय बनाती हैं वहाँ जनधर्मी चेतना की लघुपत्रिकाएँ पाठक को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संपन्न करती हैं, जीवन के कटु यथार्थ का बोध कराती हैं, सामाजिक समस्याओं को सही संदर्भ में रखकर उनके समाधान की समझ देती हैं और जनता को अनाचार के खिलाफ संघर्ष के लिए प्रेरित करती हैं । उनमें वामपंथीय एवं जनतांत्रिक मूल्यों के प्रेषण के विचार हैं । जनधर्मी चेतना की लघुपत्रिकाएँ बड़ी मात्रा में पाठक वर्ग की मोर्चाएँ तैयार करती हैं और फासीवाद, साम्राज्यवाद, नव उपनिवेशवाद, सांप्रदायिकता, वि-संस्कृतिकरण जैसी चुनौतियों के विरुद्ध उनकी चेतना को आंदोलित करती हैं । युगबोध से प्रभावित होने के हेतु उनमें, राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक एवं पर्यावरण संबंधी अनेक समस्याएँ उभारी गयी हैं । वे जनता के उस वर्ग की ओर मुड़ी हुई हैं जो पीड़ित, प्रताड़ित एवं उपेक्षित हैं । अन्ततोगत्वा वे साहित्य का समाज शास्त्रीय अध्ययन है जिनमें एक समाजवादी समाज-व्यवस्था की निर्मिति की भावना सक्रिय है । आखिरकार, समकालीन लघुपत्रिकाओं का सर्वेक्षण इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि आज की लगभग सभी श्रेष्ठ लघुपत्रिकाओं में, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ये दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं ।

समकालीन लघुपत्रिका और कविता

मानव की रक्षा और उन्नति के लिए जो भावात्मक तथा वैचारिक प्रयास होते रहते हैं उनका सामूहिक रूप सांस्कृति है । कविता संस्कृति का लघु संस्करण हैं । कविता का आस्वादनपरक अध्ययन संस्कृति के अतीत का बोध कराता है और अपनी संपूर्णता में कविता हर युग, जाति, देश तथा क्षेत्र के इतिहास लेखन में सहायक होती है । अतएव हिन्दी की

साहित्यिक लघुपत्रिकाओं में अन्य रचनात्मक विधाओं की तुलना में कविता को अधिक प्रमुखता दी गयी है । नतीजतन हिन्दी साहित्य में कविता का विकास त्वरित हुआ । इसका एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी की साहित्यिक लघुपत्रिकाओं के अधिकांश संपादक मूलत: कवि रहे हैं और व्यष्टिपरक रुचि की वजह से वे अपनी पत्रिकाओं में कविता को खूब प्रोत्साहन देते रहे हैं ।

समकालीन कविता की उन्नति के लिए सबसे अधिक योगदान कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाओं ने दिये हैं । स्वातंत्र्योत्तर युग में ऐसी कुछ लघुपत्रिकाएँ निकली थीं जो विशेषतया कविता केन्द्रित थीं । वर्तमान दौर में भी अनेक कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाएँ प्रकाशित हुई हैं जैसे कि "ओर" (विजेन्द्र), "आवेग" (प्रसन्नकुमार ओझा), "कवितांतर" (रामस्वरूप सिन्दूर), "उन्नयन" (श्रीप्रकाश मिश्र), "प्रतिबद्धकविता" (बलवीर सिंह), "कविता" (भगीरथ भार्गव), "संभवा" (ध्रुवनारायण गुप्त), "आज की कविताएँ" (गिरिजाशंकर मोढ़ी), "सम्यक" (मदन मोहन उपेन्द्र) इत्यादि । इन पत्रिकाओं का गौरव ऐतिहासिक है । इन्होंने कविता के एक विशेष पाठक वर्ग को निर्मित किया है और कविता के प्रति एक सचेत दृष्टि को रूपायित किया है । इनमें बडी मात्रा में नयी संवेदनाओं व नये कवियों का परिचय दिया गया है और कविता के विभिन्न विचारात्मक व सर्जनात्मक पहलुओं पर भी दृष्टिपात किया गया है । इस प्रकार समकालीन कविता के व्याकरण रचने में कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाओं ने बहुत कुछ रचनात्मक कार्य किये हैं । समसामयिक कविताओं के भीतरी सत्य को शिनाख्त करने में उन पत्रिकाओं में प्रकाशित काव्यालोचनाएँ तथा काव्य-संकलनों की समीक्षाएँ सहायक निकली हैं ।

कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाओं ने विशिष्ट साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों से कविता विषयक बहुतेरे संवादों का आयोजन किया है । व्यावसायिक पत्रिकाओं के अभिजात नेतृत्व पर चलने वाले सतही संवादों से उनकी पृथक् अस्मिता है । किसी खास विचार या मुद्दे को पाठक वर्ग के सिर पर थोप देने का स्वार्थ उन संवादों में नहीं है और वे "बहस के लिए बहस" वाले तत्व पर आस्था नहीं रखतीं। "कविता के प्रयोजन" पर "और" द्वारा आयोजित संवाद और "समकालीन कविता के गतिरोध" पर "संभवा" द्वारा संचालित बहस इसके दो उदाहरण हैं । कविता के प्रयोजन पर केन्द्रित चर्चा के उद्देश्य कविता के प्रयोजन को और व्यापक आयाम देना तथा कवि-कर्म को कई दृष्टियों से देखने की प्रेरणा देना रहे हैं ।[1] उसमें वीरेन्द्र मोहन, सूरज पालीवाल, अमिताभ चक्रवर्ती, राजाराम भादू जैसे समकालीन समीक्षकों के विचारोद्दीपक आलोचनाओं के माध्यम से कविता के सामाजिक कर्तव्य, जातीय-सांस्कृतिक सरोकार, मानवीय संदर्भ, वर्तमान प्रासंगिकता जैसे विभिन्न पहलुओं पर विविध कोणों से दृष्टि डाली गयी है ।

"संभवा" द्वारा "समकालीन कविता के गतिरोध" विषयक बहस आयोजित करने के मूल में भी कुछ विशेष अपेक्षाएँ निहित थीं जैसे कि पाठकों को समकालीन कविता की ताकत और कमज़ोरियाँ समझने की दृष्टि उपलब्ध कराना, रचनाकारों को बेहतर कुछ लिखने का संकल्प देना, कविता को संकटों से उबारकर, अपनी तेजस्विता, गरिमा और आत्मीयता के साथ हमारे संघर्षों के बगल में उपस्थित करना आदि ।[2] प्रस्तुत बहस के ज़रिए

---

1. और, पूर्वकथन, जुलाई-सितंबर 1994, पृ. 78.
2. संभवा, अपनी बात, 1994, पृ. 4.

समकालीन कवियों के विसंगत बोध, परिवेश की विडंबना, नयी सृजनात्मक चुनौतियाँ जैसे संदर्भों की ओर भी संकेत दिया गया है । इन संवादों व बहसों की विशेषता यह है कि इनमें रचनाकारों, आलोचकों एवं बुद्धिजीवियों के साथ आम पाठक वर्ग भी शामिल हुए हैं और अपने दृष्टिकोणों और प्रतिक्रियाओं के प्रस्तुतीकरण के द्वारा उन्होंने पाठक एवं लेखक की दूरी कम करने की कोशिश की है ।

कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाएँ कविता के नये हस्ताक्षरों के लिए एक खुला मंच हैं । उनमें युवा-पीढी के प्रतिभावान् कवियों का हार्दिक स्वागत होता है । इसलिए रचनात्मकता का ताज़ापन प्रत्येक कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाओं में से अनुभव किया जा सकता हैं । समकालीन कविता के प्राय: समुचे युवा कवियों ने इनके माध्यम से प्रतिष्ठा पायी है । नवें दशक के कवियों की, जिनमें परिवर्तन की आकांक्षा और उसमें बाधक तत्वों के प्रति सजगता है, "पहल", "ओर", "आवेग", "इत्यलम्", "आज की कविताएँ", "संभवा" जैसी कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाओं के ज़रिए संभव हुई है । कभी तो कविता केन्द्रित पत्रिकाएँ किसी युवा कवि या कवयित्री की एकाध कविताएँ एक ही अंक में छप देती हैं जिससे उनकी अलग पहचान प्राप्त होती है । "ओर" में प्रकाशित युवतर कवि कृष्ण मोहन झा और अंबिकादत्त की कविताएँ इसका उदाहरण हैं ।[1] इस दिशा में "उन्नयन" के श्रीप्रकाश मिश्र ने अद्भुत कार्य किये हैं । उनके संपादकीय लेख और लघु टिप्पणियाँ अनेक तरुण कवियों के लिए उत्साहवर्द्धक सिद्ध हुई हैं । "उन्नयन" के तेरहवें अंक में गंभीर सिंह पालनी की कविताओं के साथ दी हुई यह टिप्पणी इसका प्रमाण है - "यह गौर करने की बात है कि उनकी कविता की

---

1. ओर, अप्रैल-जून 1993, पृ. 31, 39.

स्पीरिट चाहे जितनी बार रीपीट हो जाय उनकी कविता की शब्दावली रीपीट नहीं होती । अगर कहीं बिंब या प्रतीक रीपीट भी होते हैं तो नये संदर्भों में बहुआयाम देने के लिए, एक और बृहत्तर दुनिया जोडने के लिए ।"[1] यह कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाओं का एक सार्थक पक्ष है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं में युवा कविता की तरफ जो विशेष मोह है वह कविताओं में साकार प्रकट हुआ है । "बहुमत" का युवा कविता अंक इसका उदाहरण है । उसमें युवा कविता की मानसिकता और प्रतिबद्धता के आयामों को अलग-से पहचानते हुए बताया गया है, "युवा कविता ने जो सब से महत्वपूर्ण कार्य किया है वह यह है कि इसने जीवन के उन अनदेखे कोनों में झांका है जिधर आँख उठाने से भी कविता कतराती रही है ।"[2] इस तरह समकालीन कविताओं के युवा कविता को एक समसामयिक काव्यांदोलन के रूप में लिया है । यह समकालीन कविता की विकासशीलता का एक और चरण है । मोटे तौर पर समकालीन कविता की संवेदनात्मक भूमिका का पालन करने में कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाओं ने जो प्रयास किये हैं उनको कविताओं ने गति दी है ।

समकालीन कविताओं पर बहुत-से लघुपत्रिकाओं ने विशेषांक निकाले हैं । व्यावसायिक उद्देश्यों से आयोजित सेठाश्रित या प्रतिष्ठानी

---

1. उन्नयन, गंभीरसिंह पालनी की कविताएँ, जनवरी 1993, पृ. 73.
2. मानबहादूर सिंह, आज की युवा कविता इस गुलाम मानसिकता के विपक्ष में खडी है । बहुमत, जनवरी-जून 1994, पृ. 131.

पत्रिकाओं के काव्य-संग्रहों से अलग लघुपत्रिकाओं के कविताओं के संकलन और संचालन के विशेष सांस्कृतिक आधार हैं । कविता के समसामयिक संदर्भों को समेटना, कविता से जुड़े हुए विभिन्न आंदोलनों को गतिशीलता प्रदान करना, कविता को तरुण चेतना को पहचानना आदि उसके प्रमुख उद्देश्य हैं । इनमें समकालीन कविता के विकास के विविध क्षणों का परिचय भी प्राप्त होता है ।

कविता और काल के अन्तर्संबन्धों के प्रति कवितांक प्राय: जागरूक हैं । इन विशेषांकों ने समकालीन कविता के प्रगतिशील प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है और उसकी जनधर्मिता का व्यापक समर्थन किया है । उनमें 'समकालीनता' के यथार्थ की पहचान को यों प्रकट किया गया है, -"आज की कविता व्यक्ति-वैशिष्ट की खोज में "हम से मैं" की ओर प्रत्यावर्तन" की कविता न होकर शोषित-दमित और अधिकार-वंचित अवाम के मुक्ति-प्रयासों में अपनी सक्रिय और सार्थक सहभागिता निर्धारित करने की कोशिश में, "मैं" से हम की ओर एक निर्णायक मोड की कविता है ।"[1] केदारनाथ अग्रवाल से लेकर युवतर कवियों तक की कविताओं की विस्तृत कैनवास को प्रस्तुत करते हुए कवितांकों ने परिवेश और रचना के आत्मीयतापूर्ण संबंध के विभिन्न दृश्य दिखा दिये हैं और कविता के वर्ग-आधार और भाषा, व्याकरण व संरचना के बदलते स्वरूपों को उभारने की कोशिश की गयी है ।

समकालीन कवितांकों में समाज की वर्तमान जटिलताओं के

---

1. शलभ श्रीराम सिंह, एक पत्र-प्रतिक्रिया, पहल, जनवरी 1979, पृ. 201-202.

परिप्रेक्ष्य में, कविता की मौजूदा स्थिति पर विचार-विमर्श व्यक्त किया गया है । समकालीन लघुपत्रिकाओं ने इनके माध्यम से समसामयिक कविता में आये बदलावों का रेखांकन करने का और वर्तमान समय की जडता, निराशा एवं खोज के बीच अपना रास्ता तलाशने का आग्रह प्रकट किया है ।[1] साथ-साथ उनमें, भिन्न-भिन्न काव्यदर्शनों को समग्रता में समेटने के रचनात्मक कार्य का निर्वहण भी हुआ है ।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में कविता की जो भुमिका और प्रासंगिकता होती है उस पर कवितांक चिंतनशील हुए हैं । यहाँ धर्मेन्द्र गुप्त की पत्रिका "विषयवस्तु" के कवितांक का उल्लेख ज़रूरी है । इसी क्रम में अन्य लघुपत्रिकाओं ने भी कविता की सामाजिक चेतना को विकसित करने की क्षमता की नियमित सूचना दी है और राजनीतिक अन्तर्विरोधों तथा सांस्कृतिक विकृतियों के कठिन समय के बीच उभरते मानव को यत्रतत्र प्रस्तुत किया है । व्यापक परिप्रेक्ष्य में उन्होंने समकालीन कविता के वर्ग-आधार को विश्लेषित करने की कोशिश भी की है ।[2] यह समकालीन कवितांकों की वाम चेतना का सही निदर्शन है ।

समकालीन कविता की सोच और समझ की अनेक दिशाएँ हैं जिनमें कवि-केन्द्रित अध्ययनों का विशेष स्थान है । समकालीन लघुपत्रिकाओं

---

1. राजेश जोशी, संपादकीय, वर्तमान साहित्य अप्रैल-मई 1992, पृ. 7.
2. विष्णुचन्द्र शर्मा, समसामयिक कविता का वर्ग-आधार, पहल, जनवरी 1979, पृ. 205.

समकालीन लघुपत्रिकाएँ कविता की समकालीनता की अन्वेषी हैं । उनमें समकालीन कविता की नवीनतम प्रवृत्तियों व चुनौतियों के प्रति निष्ठा है ।[1,2] उनमें नागार्जुन से लेकर कात्यायनी तक की सृजनधर्मिता के अनेक दृश्य प्राप्त हैं । अर्थात् समकालीन कविता के साक्षात्कार के संदर्भ में उम्र या पीढी कभी कोई बाधक तत्व नहीं हुई हैं । उदात्त मानवीयता और प्रतिबद्धता उसका भीतरी स्रोत है । समकालीन लघुपत्रिकाएँ कविता की संवेदना को महाद्वीपों तक ले चली हैं । अत: समकालीन लघुपत्रिकाओं में चीनी, आफ्रिका, फ्रांस, फिलिस्तीन, ग्रीक, बंगलादेश, पाकिस्तान जैसे देशों की कविताएँ उपलब्ध हुई हैं । "दस्तावेज़" का विश्वकविता अंक और "तनाव" का अनुवाद श्रृंखला आयोजन स्वयं इस गगनधर्मी काव्य संवेदना के सबूत हैं । कुछ अन्य लघुपत्रिकाओं ने भी इस क्रम को ज़ारी रखा है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने खासकर कविता की आस्वादनशीलता को विस्तृत किया है । फलत: समकालीन कविता ने परंपरा की पगडंडियों को छोडकर जीवनानुभूतियों व सौंदर्यचेतना के राजपथों को अपनाया है जिसके लिए जगदीश चतुर्वेदी की "अकविता" जैसी विश्रुत लघुपत्रिकाएँ महान प्रेरणा रही हैं । इस तरह समकालीन लघुपत्रिकाओं ने कविता के माध्यम से समय और स्थिति का बोध कराते हुए समकालीन कविता के मूल्य-विचार के नये प्रतिमानों की आवश्यकता को उठाया है । आज लघुपत्रिकाओं ने समीक्षा की जो प्रवृत्ति दिखाई है वह मूलत: जनधर्मी-दृष्टि, लोकचेतना, जनतांत्रिकता, सांस्कृतिक

---

1. विजेन्द्र, कविता की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, संप्रेषण, अंक 19-20, पृ. 1-7.
2. विजेन्द्र, समकालीन कविता की चुनौतियाँ, पहल, अंक 37, पृ. 12-25.

में इस बात की ज़रूर जानकारी है । इसलिए बहुत-सी लघुपत्रिकाओं ने अपने कवि-केन्द्रित विशेषांक प्रकाशित किये हैं । समकालीन लघुपत्रिकाओं के कुछ प्रमुख कवि-केन्द्रित अंक इस प्रकार हैं -

अज्ञेय अंक	- दस्तावेज़, अंक 21, 35-36.
	- वैचारिकी, 1988.
श्रीकांतवर्मा अंक	- दस्तावेज़, अंक 31-32.
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना अंक	- मुक्ति, 1984.
नागार्जुन अंक	- संपर्क, 1984.
राजकमल चौधरी अंक	- कारखाना, 1988.
केदारनाथ सिंह अंक	- विपक्ष, 1989.
कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह अंक	- सबद, 1993.
त्रिलोचन अंक	- स्थापना, अंक-7,8, 1970.
	- एक और अंतरीप, 1994.
शमशेर अंक	- सापेक्ष, 1994.
भवानीप्रसाद मिश्र अंक	- समकालीन सृजन, 1995.

•

ये विशेषांक साक्ष्य हैं कि समकालीन लघुपत्रिकाओं ने अपने कवि-केन्द्रित अंकों को समकालीन कवियों तक सीमित नहीं रखा है जो उनकी दृष्टिपरक व संवेदनात्मक विस्तार को प्रमाणित करते हैं । ये दूसरी ओर समकालीन कविता के अतीत-संबंधों की स्मृति दिलाते हैं और समकालीन कविता के आंदोलनों में कवि विशेष की भूमिका को रेखांकित करते हैं ।

हिस्सेदारी और सामाजिक प्रतिबोध से लाभान्वित है । इस तरह समकालीन लघुपत्रिकाएँ कविता के इतिहास में पहली बार समकालीन कविता की तमाम गतिविधियों का साक्ष्य बनकर सामने आयी हैं ।

समकालीन लघुपत्रिका और कहानी

कहानी यथार्थ की सहज अभिव्यक्ति की एक सृजनात्मक विधा है । वर्तमान दौर में साहित्य की इस विधा की तरफ पाठक वर्ग का प्रखर आकर्षण है । लेखकीय दृष्टि से भी उसकी ज़्यादा वरीयता है । अतएव हिन्दी में समूचे लघुपत्रिका-संपादकों ने अपनी पत्रिकाओं में कहानी के लिए पर्याप्त जगह छोडी है । यों कहानी की दशा, दिशा तथा संभावनाओं के स्तर पर हिन्दी की साहित्यिक लघुपत्रिकाओं का योगदान प्रधान माना जाता है । समकालीन कहानी की प्रगति के क्रमिक चरण उनमें दर्शित होते हैं ।

समकालीन कहानी के आरंभिक समय की दो प्रवृत्तियाँ हैं - आधुनिकतावादी प्रवृत्ति और जनधर्मी प्रवृत्ति । जहाँ व्यावसायिक पत्रिकाएँ आधुनिकतावादी कहानी को प्रोत्साहन देती रहीं वहाँ लघुपत्रिकाएँ जनधर्मी या समष्टिपरक कहानी का प्रचार करती रहीं । यद्यपि कविता केन्द्रित लघुपत्रिकाओं की तुलना में कहानी केन्द्रित लघुपत्रिकाओं की संख्या ज़रा कम है फिर भी समकालीन कहानी की समाजोन्मुखी प्रवृत्तियों को विकसित करने में कहानी केन्द्रित लघुपत्रिकाओं ने ऐतिहासिक नेतृत्व दिया है ।

"नयी कहानियाँ" (कमलेश्वर), "सक्रिय कहानी" (राकेश वत्स), "कथा" (मार्कण्डेय), "हंस" (राजेन्द्र यादव), "कथाखंड" (धीरेन्द्र आस्थाना), "कथानक" (सुनील कौशिक), "कथा भाषा", (हरेराम समीप), "कथाबिम्ब" (दर्जीर आगा), "कहानीकार" (कमल गुप्त), "कथा संवाद" (शोभानाथ शुक्ल) आदि हिन्दी की कुछ प्रमुख कहानी केन्द्रित लघुपत्रिकाएँ हैं जिन्होंने समकालीन कहानी से जुड़े हुए लगभग सभी आंदोलनों को संचालित किया है ।

हिन्दी के समकालीन कहानी-आंदोलनों के कई आयाम हैं । उनमें पूर्ववर्ती नयी कहानी आंदोलन के प्रति गहरी असहिष्णुता दिखाई देती है । प्रेमचंद ने जिस व्यापक सहानुभूति के साथ गाँवों से लेकर शहरों तक फैली दीन-हीन जनता के जीवन की विसंगतियों और संघर्षों का चित्रण किया था, नये कहानीकारों ने उससे विमुख होकर मौकापरस्ती एवं सुविधाभोगी मध्यवर्ग को कहानी का केन्द्र बनाया । समकालीन कहानी में इस तथ्य की अवश्य जानकारी है । अत: वह कहानी को निषेध, विद्रोह, यौन-यौनेतर संबंध, संबन्धहीनता, मोहभंग, मूल्य विघटन जैसी प्रवृत्तियों से भी अपने को अलग करना चाहती है । उसमें एक सहज विकास क्रम और आयोजित आंदोलन के चिह्न उपलब्ध होते हैं जिनके मूल में मुख्यत: सक्रिय कहानी, सचेतन कहानी, कथा, कथांतर, नयी कहानियाँ सरीखी कहानी केन्द्रित लघुपत्रिकाओं के संपादक कार्यरत हुए हैं ।

समकालीन कहानी के निकटतम अध्ययन से अनुभव होता है कि समकालीन हिन्दी कहानी के दौर में तीन आंदोलन काफी प्रमुख हैं । वे हैं - समान्तर कहानी आंदोलन, जनवादी कहानी आंदोलन और सक्रिय कहानी आंदोलन

इन तीन आंदोलनों की बुनियादी चेतना समाजवादी या वामपंथी विचारधारा रही है । शोषण नीति का विरोध, पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था की आलोचना और समाजवादी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण उनके सामान्य लक्ष्य थे । समांतर, समांतर साहित्य, कथा, सक्रिय कहानी जैसी लघुपत्रिकाएँ इन आंदोलनों को उत्साह देती आयी हैं । दरअसल हिन्दी में समांतर कहानी की अवधारणा सन् 1972 में "समांतर" के प्रकाशन के साथ ही हुई है । वह मूलत: सन् 70-72 के आसपास के सांस्कृतिक परिदृश्य से प्रेरित थी । समांतर कहानी आम आदमी की स्थिति और संघर्ष की अभिव्यक्ति है । उसमें पूँजी के प्रभुत्व के खिलाफ युद्ध के लिए तैयार आवाज़ को चित्रित किया गया है । समयगत सत्यों और रचना के बीच की सामंजस्य ही समांतर कहानी की आधार शिला है । जब कामतानाथ और ललित मोहन अवस्थी के संपादन में अक्तूबर-दिसंबर 1974 ई. में समांतर साहित्य का पहला अंक प्रकाश में आया तब से हिन्दी में समांतर कहानी आंदोलन की हवा तेज बहने लगी । समांतर कहानी को एक वैचारिक एवं दार्शनिक आयाम देने में "समांतर साहित्य" के अनेक लेख और अग्रलेख सहायक सिद्ध हुए हैं । "समांतर साहित्य" का कहानी विशेषांक ने प्रस्तुत कथा आंदोलन को बहुत आगे ले चला है । इसके अलावा "शिलापंख", "समझ", "सतत", "अब", "कथ्य" जैसी लघुपत्रिकाओं में प्रकाशित कई कहानियाँ और समीक्षाएँ भी इस दिशा में अत्यंत कामयाब हुई हैं ।

जनवादी कहानी आंदोलन का उद्भव सातवें दशक के अंत में दिखाई देता है और उसका असली विकास आठवें दशक में हुआ है ।

---

1. सुनीता भाव्या, आठवें दशक की हिन्दी कहानी दशा और दृष्टि, प्रस्ताव, मार्च 1984, पृ. 169.
2. डा. रामबचन राय, समांतर कहानी, समांतर साहित्य, अक्तूबर-दिसंबर, 1974, पृ. 68.

जनवादी कहानी प्रगतिवाद का परिमार्जित रूप है जिसमें मार्क्सवादी विचार धारा का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है । गाँवों में चलने वाला वर्ग संघर्ष जनवादी कहानी का विषय था और उसमें व्यवस्था के अंत की कल्पना की गयी है ।[1] मार्कंण्डय की "कथा", सतीश जमाली की "नयी कहानियाँ" जैसी कहानी केन्द्रित लघुपत्रिकाओं के सुदृढ नेतृत्व में जनवादी कहानी आंदोलन खूब प्रचरित हुआ । ये पत्रिकाएँ प्रारंभ से ही पाठकों में एक खास प्रकार की जनवादी आस्वादनशीलता को विकसित करने में उत्साही रही हैं । इनमें ऐसी बहुत-सी कथाएँ तथा आलोचनात्मक रचनाएँ लगातार प्रकाशित हुई हैं जिनके द्वारा लेखक जीवन के यथार्थ को वामपंथी दृष्टिकोण से ताकते थे । उन पत्रिकाओं में जन सामान्य के संघर्ष को अवरुद्ध कर देने वाले प्रतिक्रियावादी ताकतों की सही पहचान भी होती थी । "कथा", "नयी कहानियाँ" जैसी कहानी केन्द्रित लघुपत्रिकाओं के द्वारा संचालित जनवादी कहानी आंदोलन को "कथन," "नयापथ," "कलम," "धाम," "उत्तरा," अब जैसी लघुपत्रिकाओं ने बहुत आगे ले चला है ।

सक्रिय कहानी समकालीन कहानी का तीसरा प्रमुख आंदोलन है । वामपंथी चेतना से प्रभावित होते हुए भी वह किसी वाद के तंग दायरों में आबद्ध रहना नहीं चाहता । वह कहानी की क्रियाशीलता पर अधिक बल देता है । सक्रिय कहानी की अवधारणा "मंच" के विशेषांकों के द्वारा हुई है । लेकिन सक्रिय कहानी को एक आंदोलन का स्वरूप देने में राकेश वत्स के संपादन में प्रकाशित "सक्रिय कहानी" की अहम योगदान है । उसमें सक्रिय कहानी का विवेचन इस प्रकार किया गया है -"सक्रिय कहानी का

---

1. जवरीमल्ल पारख, कथन, जनवरी-फरवरी, 1981, पृ. 56.

सीधा और स्पष्ट मतलब है आदमी की चेतनात्मक ऊर्जा और जीवन्तता की कहानी । उस समझ और अहसास की कहानी जो आदमी को बेबशी वैचारिक निहत्थेपन और नपुंसकता से नजात दिलाकर पहले स्वयं अपने अंदर की कमज़ोरियों के खिलाफ खड़ा होने के लिए तैयार अपने सिर पर लेती है ।"[1] सक्रिय कहानी की ढेर सारी प्रवृत्तियाँ, राकेश वत्स, सच्चिदानंद धूमकेतु, सुरेन्द्र मनन, धीरेन्द्र आस्थाना, रमेश बतरा, कुमार संभव जैसे कहानीकारों, शंभुनाथ सिंह, सुरेन्द्रकुमार शैलेश जैदी आदि के विचारोद्दीपक आलेखों के माध्यम से दृढ़ हुई हैं । सक्रिय कहानी आंदोलन के विकास में "कथन," "कथाखंड," "समय," "प्रस्ताव," "प्रसंग" जैसी लघुपत्रिकाएँ अत्यंत कामयाब हुई हैं ।

इस तरह प्रारंभिक दौर की कहानी-केन्द्रित लघुपत्रिकाओं का प्रकाशन, कहानी साहित्य के विशेष आंदोलनों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से हुआ है । आठवें दशक के उत्तरार्द्ध से लेकर कहानी केन्द्रित पत्रिकाओं की अपेक्षाओं व स्वरूपों में अनेक परिवर्तन नज़र आने लगे । वे अधिक लोकतांत्रिक हुईं और कोरे आंदोलनों की जंजीरों में बंध नहीं रहीं । आज कहानी केन्द्रित लघुपत्रिकाएँ व्यापक स्तर पर समकालीन रचना के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों के अधिक निकट आयी हैं । "कथा भाषा" का चयन इसका उदाहरण है । उसमें विभिन्न भाषाओं के कहानी-साहित्य को हिन्दी के पाठक वर्ग के समीप प्रस्तुत करने का निश्चित प्रयास मिलता है । "कथा भाषा" के प्रवेशांक में उसके सांस्कृतिक महत्व की तरफ संकेत किया गया है - "अलग-अलग भाषाओं की कहानियों के ज़रिए जहाँ हम उस भाषा-साहित्य का

---

1. राकेश वत्स, सक्रिय कहानी की भूमिका, सक्रिय कहानी, दिसंबर 1980, पृ. 11.

ऐतिहासिक भौगोलिक पृष्ठभूमि से जुड़े आर्थिक-सामाजिक दबावों का और उसके तहत रचनाकारों का सोच सामने लाना चाहते हैं ।"[1] यों कथा भाषा पृथक् पृथक् परिवेशों और वातावरणों से आयी समांतर कहानियों की उत्कृष्टता और कहानीकारों के अन्तर्स्वर को पकड़ती है । परवर्ती लघुपत्रिकाओं में इस परंपरा की प्रवाहशीलता प्राप्त हो जाती है ।

मौजूदा कहानी केन्द्रित लघुपत्रिकाओं ने समकालीन कहानी के परिदृश्य को विस्तृत किया है । उसकी मूल प्रेरणा जीवन और परिस्थितियों की बहुलता से पाठक वर्ग को अवगत कराने की गरज है । उनमें कहानीकार के आदर्श की यह जो परिकल्पना की गयी है वह उसका गवाह है - "बुरी तरह से उलझी हुई आदमी के भीतर की दुनिया में गहरे उतरकर, कहानीकार एक-एक कोना तलशता है और उस हिम्मत तसल्ली या आराम को खोजता है जो आदमी की तमाम मुश्किलों के बावजूद फिर से अपने पैरों पर खड़ा कर देती है, जीवन से जूझने के लिए ।"[2] "कथानक" में आकर समकालीन कहानीकारों का यह तेवर और मूल्य विचार ज़्यादा स्पष्ट हो जाता है । "कथानक" ने कथा साहित्य के व्यक्ति केन्द्रित अध्ययनों की जो योजना बनायी है वह आज के कथाकारों के सरोकार के अपूर्व संदर्भों का उद्घाटन करती है । कुंदनसिंह परिहार, ऊर्मिला शिरीष, विजयकांत, रामधारीसिंह दिवाकर और जवाहर सिंह की रचनाधर्मिता की आलोचना में "कथानक" की विकासशील चेतना का प्रतिबिंब होता है ।[3,4] यह हाशिये पर डाल दिये गये महत्वपूर्ण कहानीकारों को

---

1. कथा-भाषा, संपादकीय, अक्तूबर 1987, पृ. 2.
2. कहानियाँ, नेपथ्य से, अगस्त 1987, पृ. 2.
3. कथानक, मई-अगस्त, 1992, पृ. 202-209.
4. वही, जुलाई-अक्तूबर, 1993, पृ. 192-214.

रेखांकित करने के सांस्कृतिक बोध का निदर्शन भी है ।

हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाओं के कई विशेषांक निकले हैं । उनके द्वारा समकालीन कहानी के सामाजिक एवं सृजनात्मक संदर्भों की अन्वेषणा हुई है । उन विशेषांकों में मुख्यत: ऐसी कहानियाँ संकलनित हैं जो असल में समसामयिक स्थिति और परिवेश का प्रतिनिधित्व करती हैं । इस तरह कहानी विशेषांक हिन्दी कहानी के इतिहास में समकालीन कहानी की अस्मिता को प्रतिष्ठित करने का सार्थक प्रयास करते हैं ।

प्राय: तमाम कहानी विशेषांक इस बात को प्रमाणित करते हैं कि वर्तमान कथा साहित्य में यथार्थवाद फिर से ज़ोर पकडने लगा है । "यथार्थ की जीवन्तता तथा उसमें पाठक की विश्वसनीयता का सवाल आज मुख्य रूप से उठाया जा रहा है ।"[1] वह पूर्ववर्ती कहानी के अतिवादी यथार्थ और रूमानी यथार्थ से भिन्न कहानीकार के सांस्कृतिक चेतना का यथार्थ है । समकालीन कहानी विशेषांक कहानी की इस प्रवृत्ति को विविध कोनों से ताका है और अनेक निरीक्षण प्रस्तुत किये हैं । उनके अनुसार समकालीन हिन्दी कहानी का जो रूप हमारे सामने है वह जनवादी रूप है । वह कहानी यथार्थवादी नैरंतर्य को बनायी रखती है । वह प्रेमचंद की परंपरा को और नयी कहानी की परंपरा को सही संदर्भों में समझने की कोशिश है ।[2] वह एक ओर मनवाद

---

1. सुरेन्द्र स्निग्ध, आज की हिन्दी कहानी कलात्मक और वैचारिक अंतर्सम्बन्ध, संभव, अप्रैल-दिसंबर, 1991, पृ. 39.
2. रमेश उपाध्याय, समकालीन हिन्दी कहानी दशा और दिशा, आम आदमी, अक्तूबर 1988 - मार्च 1989, पृ. 239.

एवं तनवाद की आलोचक है और दूसरी ओर संकट ग्रस्त पूँजीवाद की विरोधी है । पूँजीवादी समाज व्यवस्था के शिकंजे में पीड़ित आम जनता का दैन्य उसका वस्तुपक्ष है । यों समकालीन कहानी अंकों में प्रकाशित कहानियाँ वर्तमान दौर के भीषण यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में पाठक को संघर्ष की रणनीति को अपनाने की प्रेरणा देती है ।

समकालीन कहानी अंक विस्तृत स्तर पर अपसंस्कृति के भयानक संकटों का रू - ब - रू करते हैं । समाज के बहुविध शोषण तंत्रों से उत्पन्न विषम वातावरण में वे कहानी की प्रासंगिकता को ढूँढते हैं । वे "झूटपुटा", "क्या तुम ने कभी कोई सरदार भिखारी देखा"जैसी कहानियों के प्रकाशन द्वारा समय और समाज की अधुनाधन विडंबनाओं की तरफ पाठक वर्ग का ध्यान आकृष्ट करते हैं ।[1] साथ ही वे मानव मूल्यों को आपत्ति पहूँचाने वाले उपनिवेशवाद, उपभोक्तावाद, जातिवाद, धर्मोन्माद सरीखे गंभीर तत्वों पर वैचारिक स्तर पर विचार-विमर्श आयोजित करते हैं ।[2] उनमें, उपभोक्तावादी समाज की संवेदनाहीनता और सरोकारहीनता का पटाक्षेप और उसके खिलाफ संघर्षशील कहानियों की प्रतिबद्ध एवं सद्भावनापूर्ण प्रवृत्तियों का समर्थन व प्रोत्साहन भी मिलता है । यह ज़रूर समकालीन कथा-समीक्षा का नया मोड है ।

परिचर्चाओं व संवादों के माध्यम से समकालीन कहानी अंकों

---

1. पहल, सितंबर 1985, पृ. 29-40, 170-179.
2. शंभुनाथ, विकास की सभ्यता से टकरा रही हैं कहानियाँ, संबोधन, 1992, पृ. 167-171.

में आस्वादनशीलता को नये आयाम दिये हैं । इस दृष्टि से "पहल" के कहानी विशेषांक का गौरव ऐतिहासिक है । इसमें समकालीन कहानी की अवधारणा समकालीन कहानी के विकास के विभिन्न स्तर, समकालीन कहानी का भविष्य, कहानी की प्रतिबद्धता, सामाजिक सच्चाई की अभिव्यक्ति की दिशाएँ, वामपंथी रुझान जैसे मुद्दों पर चर्चा हुई है । इसके द्वारा समकालीन कहानी को विकासशील राजनीतिक चेतना को उभारने का कार्य संभव हुआ है । उसमें वर्तमान कहानी के सबल और निर्बल पक्ष का रहस्योद्घाटन और अनुभववाद के दायरों से निकलकर वस्तुगत सामाजिक जीवन संदर्भों से जुड़ती कहानी का समर्थन भी प्राप्त है । आम तौर पर समकालीन कहानी अंकों की परिचर्चाएँ समकालीन कहानी के चरित्रपरक निष्कर्षों में पहुँचाने में अत्यंत उपयोगी हैं । उन्होंने समकालीन कहानी के क्षेत्र में आत्मालोचना की प्रवृत्ति को प्रारंभ किया है जिससे समकालीन कहानी-आलोचना अपेक्षाकृत समृद्ध हुआ है ।

हिन्दी कहानी के विकास को लक्ष्य करते हुए समकालीन लघु-पत्रिकाओं ने अनेक बहसें संचालित की हैं जिनके अन्तर्गत समकालीन कहानी की विभिन्न समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है । उनमें "हंस" के जुलाई 1990 के अंक में कथा-समीक्षा के संकट पर आयोजित परिचर्चा - "समीक्षा के नये प्रतिमानों की खोज" - अत्यंत प्रमुख है । प्रस्तुत परिचर्चा में समकालीन कथा-समीक्षा की विभिन्न प्रवृत्तियों, उसकी सीमाओं व संभावनाओं आदि पर विभिन्न रचनाकारों के मन्तव्य प्रकट किये गये हैं । "अब" द्वारा आयोजित सुरेन्द्र तिवारी, चन्द्रभूषण तिवारी और शंकर के संवाद इस विषय

---

1. पहल, कहानी विशेषांक, सितंबर 1985.

को नया मोड दिया है । उसमें आलोचना के स्तर पर भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण का अंकन करनेवाली कहानियों को मिलने वाली उछल पर गहरी चिंता हुई है ।[1] "आहट" के प्रवेशांक में समकालीन कथा-समीक्षा की अराजक स्थिति पर केन्द्रित बहस इस सिलसिला की अलग कडी है । उसमें स्वातंत्र्योत्तर युग की कथा-समीक्षा के विविध गतिविधियों पर दृष्टिपात करते हुए इस निर्णय में पहुँच गया है कि मौजूदा आलोचकों ने समीक्षा के लिए प्रगतिशीलता को मुख्य तत्व के रूप में स्वीकारा है और प्रकारांतर में बहसकार ने कहानी की अन्तर्वस्तु और उसमें व्यंजित दृष्टि एवं संवेदना की सही पडताल करते हुए कलात्मक सौंदर्य के उद्घाटन को आवश्यकता को उठाया है ।[2] इनके अतिरिक्त कहानी और व्यावसायिकता,[3] कहानी और यथार्थ,[4] कहानी और विचारधारा,[5] रचना का नया परिप्रेक्ष्य[6] जैसे विषयों पर भी समकालीन लघुपत्रिकाओं ने विस्तृत बहसें संचालो हैं । आम तौर पर ये बहसें और परिचर्चाएँ समकालीन कहानी के अध्ययन, आस्वादन और आलोचना के नये प्रतिमानों की निर्मिति में सर्वथा सहायक सिद्ध हुई हैं ।

---

1. कथा आलोचना का संकट, परिचर्चा, अब, जुलाई 1992, पृ. 13-14.
2. रामधारी सिंह दिवाकर, हिन्दी कथा-समीक्षा का अराजक वर्तमान, आहट, दिसंबर 1992-फरवरी 1993, पृ. 54.
3. धरातल, मार्च 1979.
4. कथन, मार्च-अप्रैल 1982.
5. नई रचना, नवंबर 1988.
6. पुस्तक, अक्तूबर 1992.

समकालीन लघुपत्रिका और आलोचना

आलोचना या समीक्षा साहित्य की एक विकासशील विधा है । समकालीन आलोचना के उत्कर्ष में सभी प्रकार की लघुपत्रिकाओं का सम्मिलित योगदान है । लघुपत्रिका चाहे कविता केन्द्रित हो, कहानी केन्द्रित हो या नाटक केन्द्रित हो उसमें आलोचना को उचित सत्कार दिया गया है । हिन्दी की समकालीन आलोचना के सभी श्रेष्ठ हस्ताक्षर समकालीन लघुपत्रिकाओं के बहाने से प्रतिष्ठित हुए हैं जिनकी रचनाशीलता से समकालीन आलोचना समृद्ध हो रही है । आलोचना साहित्य के लिए समकालीन लघुपत्रिकाओं की ओर सबसे अहम देन यह है कि उन्होंने आलोचना के धरातल पर अनेक कवि-कहानिकारों की लंबी कतार खड़ा कर दी है जिससे आलोचना का सृजनात्मक पक्ष अधिक सबल हुआ है । दूसरी ओर समकालीन लघुपत्रिकाओं में रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, धनंजय वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रेमशंकर, मैनेजर पाण्डेय, कर्णसिंह चौहान, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, परमानंद श्रीवास्तव, शंभुनाथ, वीरेन्द्र मोहन, शंभुगुप्त जैसे प्रतिभावान् आलोचकों की जो व्यापक हाज़िरी है वह समकालीन आलोचना को विशेष गौरव प्रदान करती है ।

संख्या के आधार पर हिन्दी में आलोचना केन्द्रित लघुपत्रिकाएँ बहुत कम हैं । "समीक्षा", "प्रकर", "साहित्यिक नया आलोचक" जैसी एकाध लघुपत्रिकाएँ उदाहरण के लिए उद्धृत की जा सकती हैं । तो भी अन्य लघुपत्रिकाओं की तुलना में आलोचना-केन्द्रित लघुपत्रिकाओं के सामने कुछ ठोस उद्देश्य हैं जिन्हें "साहित्यिक नया आलोचक" के प्रवेशांक में इस प्रकार

अभिव्यक्त किया गया है - प्राचीन एवं नवीन साहित्यशास्त्र का नयी दृष्टि से पुनराख्यान, सभी भारतीय भाषाओं की साहित्यिक परंपरा, प्रगति तथा प्रयोगों को हिन्दी के माध्यम से परस्पर निकट लाने का प्रयास, देशांतरीय साहित्यिक गति-विधि से भारतीय पाठक को अवगति, साहित्य शास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, शैली विज्ञान आदि के क्षेत्र में आधुनिक चिंतन का संघात और परीक्षण, विशिष्ट रचनाओं की व्यावहारिक आलोचना, साहित्य की विभिन्न विधाओं के नूतन प्रकाशनों की समीक्षा, देश के लब्ध प्रतिष्ठ रचनाकारों, विद्वानों तथा चिंतकों के साथ नये लेखकों की कलम से हिन्दी के अध्येताओं को पहचान कराना और इस प्रकार भावि-पीढ़ी के निर्माण में योगदान इत्यादि ।[1] समकालीन आलोचना साहित्य के दिशा-निर्देशन और आलोचना की शास्त्रीय दृष्टि के पोषण व उन्नयन में ये उद्देश्य सहायक सिद्ध हुए हैं ।

सामान्यत: समकालीन लघुपत्रिकाओं की ओर से सबसे अधिक प्रोत्साहन कविता को प्राप्त हुआ है । उसके बाद आलोचना को मिला है । हिन्दी की कुछ लघुपत्रिकाओं ने अपने आलोचना विशेषांक निकाले हैं । उनमें "गवाह" का आलोचना अंक कई दृष्टियों से चर्चित है । इस अंक में मुख्यतया तीन मुद्दे उठाये गये हैं - आलोचना की नयी भूमिका, रचना और आलोचना की समांतरता एवं आलोचना के मूल्यांकन के नये प्रतिमानों की आवश्यकता । आलोचना की नयी भूमिका यह है कि वह रचना में अर्थ की विकासशील प्रक्रिया को उन्मुक्त करके उस पकड़ को और संभावनापूर्ण बना देती है ।[2] उसकी

---

1. साहित्यिक नया आलोचक, संपादकीय संकल्प, प्रवेशांक, 1983, पृ. 2.
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, नयी रचना दृष्टि और आलोचक की भूमिका, गवाह, अंक 3, 1978, पृ. 14.

टकराहट से रचना की अर्थ-प्रक्रिया समृद्ध हो जाती है । रचना और आलोचना की समांतरता का अध्ययन, सृजनात्मकता के नये स्तरों की अन्वेषणा है । वह साहित्यिक संस्कृति के विकास में एक महत्वपूर्ण इकाई होती है ।[1] आलोचना की मीमांसा के नये प्रतिमानों की ज़रूरत इस विवेक से अनुभव हो रही है कि सच्चे आलोचना-कर्म के लिए प्रतिभा एक अनिवार्य तत्व है और आलोचना कर्म में किसी न किसी सीमा तक आलोचक की वैयक्तिकता बनी रहती है ।[2] इस तरह "गवाह" के आलोचनांक में आलोचना साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है ।

हिन्दी में साहित्य की अन्य सृजनात्मक विधाओं की आलोचना पर केन्द्रित कुछ विशेषांक निकले हैं जैसे कि "पुरुष" का कहानी आलोचना अंक, "अलाव" का काव्यालोचना अंक आदि । कहानी आलोचना अंक में कहानी आलोचना की विविध दिशाओं व संदर्भों का साक्षात्कार करते हुए, समकालीन कहानी की विकास-यात्रा की समुचित समीक्षा दी गयी है । "अलाव" के काव्यालोचना अंक में समकालीन जनवादी कविता की आधुनिकतावादी प्रवृत्ति यानी अभिजनवादी प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करते हुए, उनका समर्थन करने वाली या उन काव्यमूल्यों को बढावा देनेवाली अभिजनवादी काव्यालोचना के तेवर को स्पष्ट किया गया है । यों लघुपत्रिकाओं के माध्यम से आलोचना की नयी भूमियों एवं संभावनाओं की तलाश हुई है ।

---

1. चन्द्रशेखर जहागिरदार, सवाल रचना और आलोचना की समांतरता का है, गवाह, अंक 3, 1978, पृ. 9.
2. हरदयाल, अब आलोचना को नए मूल्यांकन - औजार जुटाने होंगे, वही, पृ. 3.

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने कुछ विशेषांक ऐसे भी निकले हैं जो हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचकों पर केन्द्रित हैं । यहाँ कुछ प्रमुख आलोचक-केन्द्रित अंकों की सूचना दे रहे हैं ।

रामचन्द्र शुक्ल अंक	- "वसुधा", 1985.
	- "दस्तावेज़", अंक 21-22.
हज़ारी प्रसाद द्विवेदी अंक	- "दस्तावेज़", अंक 5-6.
रामविलास शर्मा अंक	- "पश्यन्ति", 1984.
	- "दस्तावेज़", अंक 23-24.
	- "मधुमाधवी", 1987.
नामवर सिंह अंक	- "पहल", 1988.

ये अंक संपादकों की उत्सवधर्मी मानसिकता के कोरे उत्पाद नहीं, बल्कि "एक आलोचक के मूल्यांकन में आलोचना की जो ज़रूरी भूमिका" है उसके निर्वहण हैं ।[1] ये मुख्य रूप से तीन कार्य लक्ष्य करते हैं - प्रस्तुत तेजस्वी आलोचकों की सृजनशीलता का सर्वांगीण विवेचन उनकी समसामयिक प्रासंगिकता की समीक्षा और उनकी आलोचना-पद्धति के समकालीन संदर्भों की खोज ।

आलोचना समकालीन लघुपत्रिकाओं का अभिन्न अंग है । समकालीन लघुपत्रिकाओं ने आलोचना के आत्मसंघर्ष की ओर अनेक बार प्रकाश डाला है । समकालीन आलोचना का आत्मसंघर्ष मुख्यत: उसकी सृजनात्मकता को लेकर आरंभ हुआ है जो उसका मूल तत्व है । प्राय: समाज में यह धारणा

---

1. धनंजय वर्मा, संपादकीय, वसुधा, अक्तूबर 1985, पृ. 11.

प्रचलित है कि असफल कवि या लेखक आलोचक बन जाते हैं । अतएव रचना एवं आलोचना में एक तात्विक अन्तर होता है और भाषा तथा संरचना की दृष्टि से रचना एवं आलोचना के बीच गहरी खाई पड़ती है । समकालीन लघुपत्रिकाओं ने इस विषय पर काफी बहस की है । परिणामत: साहित्य के क्षेत्र में नये सिरे से सृजनात्मक आलोचना की परिकल्पना हुई । सृजनात्मक आलोचना को अक्सर सौंदर्यवादी या रूपवादी आलोचना का पर्याय समझ लिया जाता है जबकि मुख्यत: रचनाकारों द्वारा लिखी जा रही आलोचना होने के नाते उसमें कृति के अनुभव लोक में घटित सामाजिक अनुभव-संवेदन और संघर्ष की वही चेतना होती है जो अपने समय की महत्वपूर्ण रचनाओं में मौजूद होते हैं । यों सृजनात्मक आलोचना आलोचक के अन्तर्मन से पैदा होती है ।[1] जहाँ रचना का मुख्य कच्चा माल बाहरी जगत है वहाँ सृजनात्मक आलोचना का तो रचना । सामान्यत: रचना और सृजनात्मक आलोचना के अन्तर्सम्बन्ध के बारे में कहा गया है - "सृजनात्मक आलोचना वह है जो रचना के समानांतर यात्रा करती है । यानि कि आलोचक उन्हीं रास्तों, मोड़ों, चौराहों से गुज़रता है जिनसे रचनाकार-आलोचक में सह-अनुभूति होना ज़रूरी है"।[2] वह {सर्जनात्मक आलोचक} विचारों को विविध स्तरों पर उत्तेजित करती चलती है जैसे रचना अनेकार्थी होकर पाठक को अनेक स्तरों पर छूती है । इस तरह समकालीन आलोचना की सृजनात्मकता के विवाद को जारी रखा है और आलोचना को एक सृजनात्मक साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया है । उनके अनुसार सृजनात्मक साहित्य की जो रचना-प्रक्रिया होती है वही आलोचना की भी है । वह निर्मित मापदंडों

---

1. परमानंद श्रीवास्तव, समकालीन आलोचना की रचनात्मक चुनौतियाँ, वसुधा, अंक 5, 1986, पृ. 51.
2. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, आलोचना का आत्मसंघर्ष और सर्जनात्मक आलोचना, पश्यन्ति, जनवरी-मार्च, 1978, पृ. 94.

तथा शास्त्रीय आधारों के ढाँचे में पूर्णतया ढली नहीं जाती । इसलिए वस्तुत: आलोचना को विस्तृत कसौटी और मूल्यवत्ता को देखते हुए समकालीन लघुपत्रिकाओं ने उसे सहज रूप से सृजनात्मक विधा मान ली है ।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि समकालीन लघुपत्रिकाओं ने समकालीन आलोचना की विभिन्न दिशाओं के विस्तार में आशातीत सहयोग दिये हैं । समकालीन कविता, कहानी, नाटक जैसी विधाओं की सही मीमांसा और मूल्यांकन उनके द्वारा संभव हुए हैं । इससे बढकर समकालीन लघुपत्रिकाओं ने आलोचना के स्तर को व्यापकता दी है । उनमें आलोचना का कार्यक्षेत्र शुद्ध साहित्य के संकुचित दायरों में आबद्ध नहीं है । उन्होंने आलोचना-कर्म को इतिहास, दर्शन, अर्थनीति, कला जैसे साहित्येतर विषयों से जोड दिया है । काशीनाथ सिंह का लेख "परमाणु युग और समकालीन साहित्य" इसका एक उदाहरण है ।[1] यह आलोचना आणविक संहार की भयानक विभीषिका के परिप्रेक्ष्य में नये रचनात्मक और लेखकीय दायित्व का बोध कराती है । इस तरह समकालीन लघुपत्रिकाएँ आलोचना के वैज्ञानिक संवेदना को तीव्र करते हुए कृति के अन्वेषण और आस्वादन के नये प्रतिमानों की परिकल्पना करती हैं ।

हिन्दी आलोचना को कलावादी दायरों से मुक्त करके उसमें प्रतिबद्धता की अजस्रधारा को प्रवाहित करने में समकालीन लघुपत्रिकाओं का

---

1. काशीनाथ सिंह, परमाणुयुग और समकालीन साहित्य, "इसलिए", मार्च 1984, पृ. 3.

योगदान सर्वथा स्वीकृत हो चुका है । "उत्तरार्ध", "कलम", "युगपरिबोध", "क्यों", "आमुख", "कथा", "वाम", "कंक", "हिरावल" जैसी लघुपत्रिकाओं ने इस दिशा में बहुत कुछ कार्य किये हैं । इन पत्रिकाओं ने संघर्षशील जनता के विचारधारात्मक पक्षों के साथ उसकी आत्मा को ओजस्विता प्रदान करनेवाले साहित्य और इस साहित्य की व्याख्या और आधार तुद्द करनेवाली आलोचना को हमेशा ही केन्द्र में रखा है । उन्होंने आलोचना, आलोचक और समाज को अन्योन्याश्रित करते हुए प्रकारांतर से समकालीन आलोचना को समाज के हर प्रकार के संघर्षों, ज्ञानात्मक विरासतों तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों व चुनौतियों से प्रेरित किया है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं का अनुशीलन इस सच्चाई को स्थापित करती है कि मानवीयता, नव मार्क्सवाद और उदात्त जनतांत्रिकबोध से प्रभावित होने के हेतु मौजूदा आलोचना अधिक समाजोन्मुखी हो रही है । वह विभिन्न वादों या शिविरों में पूर्णत: बंध नहीं है । उसमें अकादमिक या प्रतिष्ठानी आलोचना के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान निहित है । वह अकादमिक या प्रतिष्ठानी आलोचना के वैचारिक रूढीवाद, कलावाद भाषा की पंडिताऊपन और ध्रुवीकरण की प्रवृत्ति के स्थान पर स्वस्थ साहित्यिक व सांस्कृतिक चिंतन और भाषा की लोक चेतना व जनधार्मिक का परिचय कराती है । उपर्युक्त परंपरावादी आलोचना में जहाँ युवा-संवेदना के प्रति उदासी रवैया अपनाया गया है वहाँ समकालीन आलोचना सृजन व चेतना के समसामयिक संस्पर्श की तरफ पर्याप्त जागरूकता दिखा रही है । मानबहादुर सिंह

---

1. प्रदीप सक्सेना, प्रतिबद्धता की अवधारणा और हिन्दी आलोचना, लेखन अप्रैल 1983, पृ. 95.

का "आज की कविता के बारे में कुछ बातें"[1] राजाराम भादु का "राजस्थान की युवा कविता कुछ नोट्स"[2] आदि लेख इस बात के प्रमाण हैं । समग्रता में कहा जा सकता है, समकालीन लघुपत्रिका और समकालीन आलोचना परस्पर आश्रित हैं वे एक दूसरे की प्रगति-यात्रा में अवश्य सहयोगी हैं ।

समकालीन लघुपत्रिका और संवेदना का विस्तार

हिन्दी की अधिकतर लघुपत्रिकाएँ मूलत: कविता, कहानी और आलोचना केन्द्रित रही हैं । अत: उनमें नाटक या नाट्य विषयक सामग्रियाँ अपेक्षाकृत कम प्रकाशित होती हैं । इस कमी को स्वयं लघुपत्रिकाओं ने अनुभव किया है । "संवेद" के नाटक-विशेषांकों का प्रकाशन इस कमी की पूर्ति करने के उद्देश्य से हुआ है । इस अकाल बेला में नाटक की ज़रूरत महसूस करना तथा नाटक और रंगमंच पर सोचने विचारने के लिए प्रेरणा देना नाटक अंक की अतिरिक्त अपेक्षाएँ हैं ।[3] नाट्य साहित्य की दिशा में समकालीन लघुपत्रिकाओं ने जो अद्भुत कार्य है वह यह है कि उन्होंने हिन्दी में व्यापक स्तर पर जनधर्मी नाट्य संवेदना का बीज बोया और उसके पल्लवित होने के अनुकूल सांस्कृतिक वातावरण तैयार किया । "कथन" का नुक्कड़नाटक अंक, "नया पथ" का सफदर हाशमी अंक और अन्य लघुपत्रिकाओं में प्रकाशित छोटी-बड़ी नाट्य रचनाएँ इसके प्रमाण हैं । मानव जीवन की जटिलताएँ व सांस्कृतिक चुनौतियाँ इन नाटकों के केन्द्रीय वस्तु-तत्व रहे हैं ।[4,5,6] यों समकालीन

---

1. बहुमत, अंक 5, 1994, पृ. 131.
2. अभिव्यक्ति, सितंबर 1990, पृ. 45.
3. किशन कालजयी, संवेद्य, संवेद, जून 1995, पृ. 4.
4. मशीन, उत्तरगाथा, प्रवेशांक, जनवरी 1979, पृ. 85.
5. राजेन्द्र मण्डल, मारीचि का एक और संवाद, उत्तरार्द्ध, जनवरी-अप्रैल 1987, पृ. 18.
6. सुरेश कांटक, सरग नरक, रतभावना, अंक 28, प. 18.

लघुपत्रिकाएँ नाट्य-साहित्य की बेहतर संभावनाओं के बारे में पर्याप्त सचेत हैं । अतएव उन्होंने पाठक वर्ग की सामाजिक चेतना को उद्दीप्त करने के जीवन्त और ज़रूरी साधन के रूप में उसका उपयोग किया है । हिन्दी के नाटक और रंगमंच के व्यावसायिक प्रदूषण के खिलाफ लघुपत्रिकाओं ने एक और व्यावसायिक रंगमंच और लोकोन्मुखी मंचीय भाषा की परिकल्पना की है जिसमें लोकनाट्य परंपरा एवं आधुनिक रंगमंच के ढेर सारे तत्व शामिल हैं । इससे नाटक के अभिव्यक्ति पक्ष अधिक सुदृढ़ और संवेदनशील हुआ है ।

सामान्यत: लघुपत्रिकाएँ आकार में छोटी होती हैं । इसलिए उनमें उपन्यासों का प्रकाशन मुश्किल कार्य है । तो भी लघुपत्रिकाओं ने उपन्यास साहित्य की पूर्णतया उपेक्षा नहीं की है । कई लघुपत्रिकाओं ने उपन्यास अंश छपकर उपन्यास के प्रति जनरुचि पैदा करने का प्रयत्न किया है । भीष्म साहनी का "बारात"[1] और ज्ञानरंजन का "उपन्यास अंश"[2] इसी क्रम में प्रकाशित हुए हैं । इसके सिवा समकालीन लघुपत्रिकाओं ने उपन्यास-आलोचना की उन्नति में अवश्य योगदान दिये हैं । उनके "पुस्तक-समीक्षा" स्तंभ के अन्तर्गत ताज़े उपन्यासों की आलोचनाएँ हुई हैं । "संचेतना" का उपन्यास आलोचना अंक और "सर्वनाम" का उपन्यास विशेष अंक इस अवसर पर उल्लेखनीय हैं । इनके द्वारा हिन्दी की उपन्यास-आलोचना में वेग आया है ।

---

1. विपक्ष, जनवरी 1988, पृ. 50.
2. पुरुष, जून 1992, पृ. 40.

आज की लघुपत्रिकाओं में हिन्दीतर भाषा की बहु संख्यक अनूदित रचनाएँ लगातार प्रकाशित होती हैं । अनेक लघुपत्रिकाएँ विभिन्न भाषा-साहित्य पर केन्द्रित अंक निकाले हैं । इस क्षेत्र में सबसे महान कार्य "पहल" ने किया है । "पहल" का चीनी अंक, अफ्रीका अंक, पाकिस्तानी अंक, बंग्लादेश अंक, फिलिस्तीनी अंक और पाकिस्तानी अंक ने हिन्दी में सृजन एवं संवेदना के वैश्विक-मूल्यों का व्यापक प्रस्तुतीकरण किया है । "पल प्रतिपल" का फ्रांसीसी अंक भी एक चर्चित आयोजन रहा है । इनके बगैर "दस्तावेज़", "उन्नयन" जैसी लघुपत्रिकाओं ने प्रभिन्न भारतीय भाषायी साहित्य पर केन्द्रित अंक अनेक निकाले हैं । ये विशेषांक और अनूदित हिन्दी रचनाएँ अन्ततोगत्वा तीन प्रमुख कार्य लक्षित करते हैं और निर्वहित करते हैं - साहित्य की संवेदना के आयामों को विकसित करना, आस्वादन के स्तर पर विश्व-दृष्टि को तलाशना और विस्तृत परिप्रेक्ष्य में लेखकीय सरोकार के प्रतिमानों की पुनर्रचना ।

मौजूदा लघुपत्रिकाओं में इतिहास, अर्थ नीति और राजनीति विषयक अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं । ये ज्ञानात्मक रचनाएँ साहित्य और जीवन के प्रति समग्रतापूर्ण वैज्ञानिक - दृष्टि रूपायित करने में सर्वथा सहायक निकली हैं । "पहल" का आदर्श वाक्य -"इस महादेश के वैज्ञानिक विकास के लिए प्रस्तुत प्रगतिशील रचनाओं की अनिवार्य पुस्तक"- समकालीन लघुपत्रिकाओं की इस वैज्ञानिक-दृष्टि की तरफ संकेत करता है । "उत्तरार्द्ध," "कलम," "समकालीन सृजन", "सामयिक वार्ता", "संदर्श" आदि हिन्दी की कुछ अन्य लघुपत्रिकाएँ हैं जिनमें बडी मात्रा में ज्ञानात्मक साहित्य पढने को मिलता है । इसके मूलत: दो उद्देश्य प्रमुख हैं - पाठक के ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना का विस्तार और रचना के वैज्ञानिक आधार का दृढीकरण । इन उद्देश्यों की पूर्ति-हेतु

कई विशेषांकों का आयोजन किया है । "पहल" का इतिहास अंक, "अभिव्यक्ति" के विचार अंक और "संदर्श" का केरल अंक तीन प्रतिनिधि उदाहरण हैं । इन विशेषांकों के कुछ अलग- से लक्ष्य लक्षित हैं । "पहल" के इतिहास अंक के संपादकीय में इनकी व्याख्या यों की है - देश में समाजवाद के निर्माण में लगी शक्तियों को मदद देना और वामपंथ के विकास के लिए उसकी समस्त विरासत का मूल्यांकन एवं वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण ।[1] इसी वजह से उसमें इतिहास-दर्शन के यूरेशियाई संदर्भ, भारत के नवजागरण और पुनर्जागरण के विविध आयाम, इतिहास तथा इतिहासकार के वर्तमान द्वन्द्व एवं संकट आदि पर विस्तार पूर्वक विचार-विमर्श हुआ है । "उद्भावना", "इतिहास बोध" जैसी लघुपत्रिकाओं ने इन चर्चा को आगे बढाया है ।

पाठक के ज्ञान और विचार-पद्धति की सीमाओं को विस्तृत करने के प्रयास की सिलसिले में अभिव्यक्ति के विचार अंकों का प्रकाशन हुआ है ।[2] इनमें मार्क्सवाद और समाजवाद की सामयिक प्रासंगिकता पर विभिन्न कोणों से नज़रें डाली गयी हैं । उनमें मार्क्सवाद का अतीत, समाजवाद का भविष्य, वाम लेखन का वर्तमान संकट आदि विषयों पर विद्वानों के चिंतन प्रकट हुए हैं । वास्तव में, "पहल" और "कलम" ने इस दिशा में जो ऐतिहासिक कार्य किये हैं, ये उनके अगले चरण हैं । मोटे तौर पर "अभिव्यक्ति" के विचार अंक एक विशिष्ट राजनीतिक दर्शन के पुनर्मूल्यांकन के द्वारा रचना और राजनीति के सांस्कृतिक अन्तर्सबन्धों की नयी शिक्षा देते हैं ।

---

1. प्रदीप सक्सेना, संपादकीय, पहल 43-44, 1991-92, पृ. XIII
2. अभिव्यक्ति, फरवरी 1992, जुलाई 1992.

"संदर्श" का केरल अंक लघुपत्रिकाओं के संवेदनात्मक विस्तार का समसामयिक संदर्भ है । यह केरल की सृजनशीलता के रहस्योद्घाटन की उत्सुकता में परिसीमित नहीं है।यह वस्तुत: केरल के साहित्य, कला, इतिहास और संस्कृति से हिन्दी भाषा जनता को परिचित कराने के साथ ही हिन्दी और मलयालम के बीच ऐक सेतु बनाने की कामना से प्रेरित संयोजन है ।[1] उसमें ऐसे कुछ आलेख एवं टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई हैं जो केरल की लोकपरंपरा, कलात्मक विरासत, इतिहास के महती मोड आदि की सूचनाएँ देती हैं । प्राय: ऐसे अंक पाठक के ज्ञान भंडार को समृद्ध करने के साथ ही किसी राज्य विशेष या देश विशेष की सही समझ के लिए अनिवार्य दृष्टि प्रदान करते हैं ।

समकालीन लघुपत्रिका और फिल्मी कला

सिनेमा आधुनिक युग की एक प्रौद्योगिक सिद्धि है । वह अभिव्यक्ति की लोकप्रिय माध्यम है जिसका प्रभाव बहुआयामी है । सिनेमा के महत्व की मीमांसा करते हुए कहा गया है -"सिनेमा के संदर्भ में जब दर्शक उसे देखना शुरू करता है तो वह उसकी रचना से भी जुडने लगता है ।..... फिल्म प्रदर्शन की प्रक्रिया लगभग रिचउल की तरह है । जैसेकि रोशनी गुल होती है, पर्दे की सत्ता सक्रिय होती है और दर्शक एक समूह में बदल जाता है । यह एक सामूहिक भावना है जिसे हम मंदिर, मस्जिद, गिरजे में प्रार्थना के लिए एकत्रित होने जैसा भी समझ सकते है ।"[2] सिनेमा का एक आर्थिक पक्ष भी है ।

---

1. संदर्श, अपनी ओर से, 1992, पृ. 4.
2. ऋत्विक घटक, आना मेरे फिल्मों में, अनु. अक्षय उपाध्याय, पुरुष, अक्तूबर 1992, पृ. 136.

इसलिए बहुत-से उद्योगपति उसकी ओर मुड़े हुए हैं । फलस्वरूप सिनेमा का घोर व्यावसायीकरण हुआ और वह सिर्फ एक बाज़ारू उत्पाद के रूप में परिवर्तित हो गया है । सिनेमा को एक सृजनात्मक अभिव्यक्ति माननेवाली हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाएँ फिल्मी कला की इस सांस्कृतिक विडंबना को पहचान लेती हैं और संवेदना को दूषित करनेवाली गैर-कलात्मक, गैर-सामाजिक एवं अराजकतावादी व्यावसायिक फिल्मों की आलोचना करती हैं । साथ ही वे सिनेमा के वि-संस्कृतिकरण की प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करती हैं और अच्छी कलात्मक तथा यथार्थवादी फिल्मों का प्रचार भी देती हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं में ऐसी असंख्य सामग्रियाँ छप जाती हैं जो सिनेमा के गुणग्राहकों की अभिरुचि को परिष्कृत करने योग्य हैं । सिनेमा विषयक आलेखों का प्रकाशन और सिनेमा पर केन्द्रित बहस-बातचीत का आयोजन इस दिशा के कुछ रचनात्मक कार्य हैं । इनके अलावा वे बड़ी मात्रा में फिल्मी संसार के तेजस्वी कलाकर्मियों का व्यापक परिचय प्रस्तुत करती हैं और उनकी सिनेमा संबंधी रचनाओं को छप देती हैं । इस प्रकार रसास्वादन के क्षितिजों को विस्तृत करना, सिनेमा की सांस्कृतिक भूमिका की तरफ पाठक वर्ग को जागृत करना, बहुरंगीन व्यावसायिक सिनेमा के अपसंस्कृतिकरण के तत्वों का विरोध करना, सिनेमा के सत्तात्मक असर से दर्शक वर्ग को मुक्त करना और स्तरीय एवं समाजोन्मुखी सिनेमा की ओर जन-चेतना को समाकर्षिक करना समकालीन लघुपत्रिकाओं के कुछ विशेष आग्रह रहे हैं ।

सामान्यत: हिन्दी की अधिकांश लघुपत्रिकाएँ आज साहित्यिक विधाओं के विकास के लिए प्रतिबद्ध हैं । यद्यपि सिनेमा एक

साहित्येतर कला के रूप में जाना जा रहा है तो उसमें साहित्य के ढेर सारे तत्व समाहित हैं । इसलिए हिन्दी की साहित्यिक लघुपत्रिकाएँ सिनेमा के सांस्कृतिक मूल्यों पर विचारशील हुई हैं । उनमें सिनेमा को अन्य कलाओं से जोडकर देखने की प्रवृत्ति भी मिलती है ।[1] हिन्दी में सिनेमा को अधिक प्रमुखता देनेवाली लघुपत्रिकाओं में "पुरुष" का नाम सर्वोपरि है जो जनपक्षधर संस्कृति का एक सृजनात्मक मंच है । "पुरुष" के लगभग सभी अंकों में सिनेमा संबंधी कुछेक सामग्रियाँ अवश्य अन्तर्भूत की गयी हैं । उसमें सिनेमा के लिए एक अलग स्तंभ तक आयोजित हुआ है । सत्यजित राय, ऋत्विक घटक, श्याम बेनेगल, चिरन्दनदास गुप्त जैसे भारतीय सिनेमा के अपूर्व सर्जक पुरुषों के लेखों के साथ उसमें तर्कोवस्की, फेलेनी, एस.एम.आइन्स्टाइन, जानफोई, आल रब्बे, पुडोवेरिन जैसे विदेशी फिल्मी प्रतिभाओं के लेखों के अनुवाद भी यथेष्ट छपे आ रहे हैं । इनके माध्यम से एक नयी फिल्मी संस्कृति एवं फिल्मों के प्रति एक परिष्कृत विश्व-दृष्टि को निर्मित करना "पुरुष" के निहित उद्देश्य हैं ।

भारतीय फिल्मों की एक निजी संस्कृति है । लेकिन भारत की व्यावसायिक राजधानी बंबई में निर्मित होनेवाली वर्तमान हिन्दी फिल्मों का उससे कोई मोल नहीं है । "फिल्म संस्कृति" नामक अपने लेख में मशहूर निर्देशक श्याम बेनेगल इस विषय पर विचार करते हैं ।[2] वस्तुतः भारत की हिन्दी फिल्म किसी भी संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं करती । बिहार, राजस्थान, उत्तर भारत, मध्यप्रदेश, दिल्ली जैसे राज्यों की संस्कृति एवं

---

1. सतीश बहादूर, रंगमंच और फिल्म, साम्य, जनवरी 1994, पृ.57.
2. श्याम बेनेगल, फिल्म संस्कृति, पुरुष, जून 1992, पृ.89.

भावनाओं के नाम पर वह दर्शक, वर्ग को धोखा दे रही है । वाकई, उत्तर भारत, मध्यप्रदेश, राजस्थान या बिहार की भावनाओं को अभिव्यक्त करने को किसी भी प्रकार की अभिप्रेरणा के कारण ऐसा हुआ, ऐसी बात नहीं है । फिल्म की भाषा हिन्दी केवल इसलिए हुई क्योंकि उसे पूरे देश में दिखाया जा सके और उसे अखिल भारतीय संदर्भ में एक बाज़ार मिल सके । "फिल्म संस्कृति" में संस्कृति के उस कुरूपीकरण की ओर भी इशारा किया गया है जिससे पूरा सांस्कृतिक परिवेश पीडित हो रहा है । वह है, व्यावसायिक और निम्न स्तरीय फिल्मों का बढता प्रभाव । उसका कोई सांस्कृतिक आधार भले न हो, फिर भी निश्चित रूप से वह हमारी संस्कृति का एक हिस्सा बन रहा है । वह तो हिन्दी फिल्मों की उस आपत्तिजनक और हास्यास्पद प्रवृत्ति की मीमांसा है जो किसी सार्वलौकिक अनुभव का निर्माण करने का नाटक रचती है । जवरी मल्ला पारख के लेख -"हिन्दी फिल्मों में राजनैतिक परिप्रेक्ष्य" - में इसकी चर्चा हुई है ।[1] इस तरह समकालीन लघुपत्रिकाएँ फिल्म संस्कृति के भविष्य के प्रति आतुर कलाकर्मियों की चिंता को प्रेषित करती हैं ।

सिनेमा कदापि मनोरंजन करने का या नारे उछालने का मूल्यहीन साधन नहीं है । महान फिल्मकारों के दृष्टिकोणों की प्रस्तुति करते हुए समकालीन लघुपत्रिकाओं ने उसकी प्रतिबद्धता का परिचय दिया है । ऋत्विक घटक का लेख "आना मेरे फिल्मों में" इसका उदाहरण है । प्रस्तुत लेख में घटक ने उन प्रेरक तत्वों की सूचना दी है जिनकी वजह से उन्होंने फिल्म को अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के साधन के रूप में चुना था ।

---

1. अभिप्राय, दिसंबर 1987, पृ. 83.

लोगों के दुखों व दिक्कतों को सामने लाने की गरज, सिनेमा के ज़रिए मानवता तथा दुनिया के संदर्भ में गंभीर चिंतन करने की चाह, देश हित और जन हित की सोच आदि उनमें प्रमुख थे ।[1] दरअसल घटक की प्रेरणाओं के प्रस्तुतीकरण के माध्यम से "पुरुष" सिनेमा के सांस्कृतिक महत्व के विभिन्न पहलुओं को पाठक वर्ग के सामने पेश कर रहा है ।

वर्तमान विकासशील पूँजीवादी समाज-व्यवस्था ने कला के सामने अनेक प्रकार की चुनौतियों को उपस्थित कर दिया है जिनमें व्यावसायिक लोभ सर्वप्रथम है । वह तो "पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का एक ज़रूरी शर्त है ।..... जो मालिक के निर्देशन पर माल की खपत को बढ़ाकर उसके वर्ग हितों को सुरक्षित करने में सहायक होती है ।"[2] प्रत्येक युग में कलाधर्मी द्वारा कला को इस त्रासद स्थिति से मुक्त करने का प्रयास किया गया है । हमारे समाज में पूँजी का प्रभुत्व इतना व्यापक हुआ है कि फिल्मी कला भी पूर्णत: एक व्यावसायिक उत्पाद हो चुकी है । देश के इस भयावह औद्योगिक उन्नयन के परिप्रेक्ष्य में समानांतर सिनेमा की परिकल्पना हुई है । दूसरे शब्दों में ठीक तब से हमारे मन में इस भावना के बीज अंकुर आने लगे कि फिल्म नामक वस्तु को हम लोग जो सोचते आ रहे हैं दर असल वह सिर्फ वही नहीं है बल्कि और कुछ भी है, तभी से दूसरे प्रकार की फिल्में {समानांतर सिनेमा} बननी आरंभ हो गयीं ।"[3] समानांतर सिनेमा की इस विचारधारा के संप्रेषण में समकालीन लघुपत्रिकाएँ अत्यंत सहायक हुई हैं । वे अन्ततोगत्वा व्यावसायिक

---

1. ऋत्विक घटक, आना मेरे फिल्मों में, अनु. अक्षय उपाध्याय, पुरुष, अक्तूबर 1992, पृ. 135-136.
2. मधुरेश, ग्लैमर और सुविधाओं की ढलान, धरातल, मार्च 1979, पृ. 9.
3. चिरंदन दास गुप्त, समानांतर सिनेमा, अनु. नरेन, पुरुष, सितंबर 1993, पृ. 101.

और समानांतर फिल्मों के श्रेष्ठ पक्षों के सहयोग से अच्छी फिल्में निर्मित की जाने की हिमायती हैं । उनकी आस्था यह है कि सिनेमा के इन दोनों पक्षों की पारस्परिक निर्भरशीलता फिल्म संस्कृति की रचनात्मक उन्नति में ज़रूरी है ।

समकालीन लघुपत्रिका और साक्षात्कार

साक्षात्कार संचार माध्यमों का एक अभिन्न हिस्सा हैं । वह किसी व्यक्ति के लिए अपने विचार एवं दृष्टिकोण को सीधे अभिव्यक्ति करने का सामान्य उपाय है । वह आम तौर पर पत्रकार की कला है । साक्षात्कार के रचनात्मक पक्ष की पहचान पहली बार साहित्यिक पत्रकारिता के स्तर पर हुई है और उसका वास्तविक विकास लघुपत्रिकाओं में हुआ है । लघुपत्रिकाओं ने साक्षात्कार को एक सृजनात्मक साहित्यिक विधा की गरिमा प्रदान की है । लघुपत्रिकाओं के लिए वह मात्र पत्रकार का कार्य नहीं रहा है, बल्कि नवीनतम संवेदना और नवीनतम चिंतन पद्धति की नितांत अन्वेषणा है ।

आजकल ऐसी कोई लघुपत्रिका नहीं है जिसमें साक्षात्कार की उपेक्षा हुई हो । तमाम लघुपत्रिका-संपादकों ने सृजनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य की सिलसिले की स्वाभाविक कड़ी के रूप में साक्षात्कार की स्वीकृति की है । एकाध लघुपत्रिकाओं ने साक्षात्कार केन्द्रित पुस्तिकाएँ प्रकाशित की हैं जिनमें "पहल" की ओर से प्रकाशित नामवरसिंह से सुरेश पांडेय का लंबा साक्षात्कार विशेष उद्धरणीय है । आज सभी लघुपत्रिकाएँ बड़े पैमाने में साक्षात्कार छप रही हैं । इनमें मुख्य रूप से दो प्रवृत्तियाँ नज़र आती हैं - साहित्यिक और सामाजिक व सांस्कृतिक ।

साहित्यिक साक्षात्कार के अंतर्गत, सामान्यत: समसामयिक रचनाधर्मिता की गतिविधियाँ, रचना-प्रक्रिया, साहित्य का अतीत, वर्तमान एवं भविष्य, लेखकीय व्यक्तित्व तथा विचार धारा जैसे विषयों पर नामी रचनाकारों के विभिन्न दृष्टिकोण प्रकट किये जाते हैं । प्राय: सामाजिक व सांस्कृतिक साक्षात्कारों में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक समस्याओं, विडंबनाओं तथा चुनौतियों पर रचनाकारों, इतिहासकारों, सांस्कृतिककर्मियों की प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत की जाती हैं । उनमें विश्रुत कलाकर्मियों की कला विषयक बातचीत को भी जगह मिलती है ।

समकालीन साहित्य का इतिहास गवाह है अधिकांश साहित्यिक आंदोलनों का मूल स्रोत किसी न किसी लघुपत्रिका में प्रकाशित साक्षात्कार अवश्य है । यह साहित्यिक साक्षात्कार का एक सफल पक्ष है । साहित्यिक साक्षात्कार की मुख्यत: चार अपेक्षाएँ होती हैं - सृजन के संकटों की पहचान, लेखन के गुणात्मक अंशों का समर्थन, साहित्य की नयी प्रवृत्तियों का उद्घाटन और कृति एवं कृतिकार का अंदरूनी अध्ययन । हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाओं में ऐसे बहुत-से साक्षात्कार उपलब्ध हैं जिनके माध्यम से सृजन की विडंबनाओं के अनेक समसामयिक चित्र प्रकाश में आये हैं । इन साक्षात्कारों में उन विडंबनाओं के वास्तविक आधारों की तलाश की वैज्ञानिक प्रवृत्ति भी दिखाई देती है । यह लेखकों को आत्मनिरीक्षण के लिए अनिवार्य प्रेरणा देती है और रचना के संकटों से बाहर आने का सही दिशा-निर्देशन करती है । नामवरसिंह से असदजैदी और मंगलेश डबराल का साक्षात्कार

इसका एक उदाहरण है ।[1] इसमें नामवरसिंह ने समकालीन हिन्दी आलोचना के संकटों की ओर संकेत किया है और नये आलोचक के आरोप में तीन मुद्दे उठाये हैं - साहित्य से प्राथमिक लगाव का अभाव, सतही समाजशास्त्रीय आलोचना का आग्रह और निकृष्ट पत्रकारिता की निकटवर्ती भाषा का उपयोग ।

साहित्य के संकटों के अतिरिक्त, उसके धनात्मक एवं सार्थक पक्षों का उद्घाटन करने में भी लघुपत्रिकाओं में प्रकाशित साक्षात्कार उपयोगी हुए हैं । ये समकालीन रचनाकारों की सृजनशीलता को ऊर्जा व उत्साह देते हैं । इन साक्षात्कारों का सबसे प्रमुख फायदा है कि ये समसामयिक साहित्य संबंधी नयी सूचनाएँ तथा निष्कर्ष सामने लाते हैं जिनकी नींव पर समकालीन समीक्षा का ढाँचा निर्मित होता है । सुरेन्द्र चौधरी से मधुकर सिंह का साक्षात्कार इसका दृष्टांत है ।[2] प्रस्तुत साक्षात्कार में सुरेन्द्र चौधरी ने समकालीन कहानी के कुछ असाधारण पहलुओं का स्पर्श यों किया है - आज कथा और समकालीन संवेदना का एक नया समीकरण हुआ है, उसमें कला की नयी संभावनाएँ प्रकट हो रही है और पिछले दौर की व्यक्तिवादी जड़ता को तोड़कर आनेवाली ये कहानियाँ न नाटकीय है न "स्टेण्डअप कॉमिक" । इस तरह लघुपत्रिकाओं के साक्षात्कारों द्वारा इतर विधाओं की नव्यतर चेतना की स्थापना भी हुई है ।

---

1. "अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया", विपक्ष, जनवरी 1988, पृ. 205.
2. "कहानियाँ विचारधारा का प्रचार नहीं है", संभव, जुलाई-सितंबर, 1989, पृ. 119.

साहित्य एक विकासशील प्रक्रिया है । उसमें समय समय पर अनेक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं । साहित्य की समसामयिक प्रवृत्तियों का परिचय साधारणतया साक्षात्कारों के दौर में प्रकाशित किये अभिमतों के माध्यम से प्राप्त होता है । उदाहरणार्थ, मैनेजर पाण्डेय से रामकुमार कृषक का साक्षात्कार लिया जा सकता है । इसमें मैनेजर पाण्डेय ने समकालीन काव्यालोचना की अभिजनवादी प्रवृत्तियों के विविध संदर्भों की तरफ इशारा किया है ।[1] समकालीन समीक्षा के स्तर पर आज, अभिजनवादी आलोचना की जो सैद्धांतिक चर्चा ज़ोर पकड़ने लगी है, यही उसका प्रस्थान बिंदु है ।

वर्तमान समय रचनाकार ऐसे बहुत कम नज़र आते हैं जो दृष्टि और सृष्टि के अन्तर्विरोधों के बीच लय की साधना में सफल निकले हो । इस स्थिति को पाटने के लिए रचनाकार से रू-ब-रू अत्यंत दावीकार है । प्रत्येक साक्षात्कार पाठक को युगीन या परिवेशगत खूबियों के साथ कृति एवं कृतिकार की विचारधारा और जीवनानुभवों के निकटस्थ अध्ययन का अवसर देता है । दूसरी तरफ साक्षात्कारों में फाश की गयी सूचनाओं के आधार पर पाठक वर्ग रचना की अंधी गलियों से चलकर लेखकीय सफलता की शव परीक्षा कर सकते हैं । "पल प्रतिपल" में प्रकाशित रघुवीर सहाय से विष्णु नागर, प्रयाग शुक्ल, मंगलेश डबराल और असद जैदी की बातचीत,[2] "वैचारिकी" में प्रकाशित जगदीश गुप्त के साथ शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी की बातचीत,[3] "दस्तक" में प्रकाशित गुरूबचन सिंह से प्रीतपाल कौर की बातचीत[4] आदि इसका एकाधिक

---

1. "हाँ, अभिजनवादी आलोचना है, लेकिन.....", अलाव, अक्तूबर 1993, पृ. 103.
2. पल प्रतिपल, अक्तूबर-दिसंबर 1992, पृ. 11.
3. वैचारिकी, जनवरी-जून 1993, पृ. 49.
4. दस्तक, अप्रैल 1992, पृ. 7.

उदाहरण हैं । ये लेखक की रचना-प्रक्रिया के अपूर्व क्षणों को खुल देते हैं और कभी ऐसे साक्षात्कार रचनाकारों के लिए अपनी सृजनात्मक उलझनों को सुलझाने का अवसर भी हैं ।

सृजन का मूलाधार सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक परिवेश है । इसलिए समाज और संस्कृति के साथ लघुपत्रिकाओं का अटूट संपर्क बना रहता है । लघुपत्रिकाओं में प्रगतिशील लेखकों, प्रतिबद्ध इतिहासकारों तथा सुधार-चेता सांस्कृतिक कर्मियों से लिये गये कई सामाजिक व सांस्कृतिक साक्षात्कार छपे हैं जिनके द्वारा सांप्रदायिकता, संकीर्णतावाद, विघटन की प्रवृत्ति, सांस्कृतिक संकट जैसे विषयों पर चर्चाएँ हुई हैं । इन साक्षात्कारों में मानवीय दृष्टिकोण से उपर्युक्त समस्याओं के विविध पक्षों को उद्घाटित किया गया है । पाठक वर्ग में विशेष सामाजिक बोध और सांस्कृतिक समझ पैदा करने में ये साक्षात्कार ज़रूर कामयाब हैं । इनमें देश की अखंडता और सांस्कृतिक विशिष्टता के प्रति बेहद जागृति है । उदाहरण स्वरूप भीष्म साहनी से अब्दुल बिस्मिल्लाह के साक्षात्कार का उल्लेख किया जा सकता है ।[1] इसमें भीष्म साहनी ने सांप्रदायिकता के कारण, उसके विकास, उसकी आपत्ति आदि पर गंभीर विचार व्यक्त किये हैं । साथ ही उसे देश की अन्य समस्याओं से जोडकर देखने की अनिवार्यता को रेखांकित किया है । ख्यात इतिहासविद् रामशरण शर्मा से हुए साक्षात्कार में भी भारत की सांस्कृतिक अस्मिता और परंपरा के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में धर्मनिरपेक्षता के महत्व की मीमांसा हुई है ।[2] उसमें

---

1. "सांस्कृतिक क्षेत्र में साझेपन का खूबसूरत सा माहौल बना हुआ है", अब, अक्तूबर 1990, पृ. 7.
2. "भारतीय संस्कृति की मूल धारा सांप्रदायिक नहीं", कतार, नवंबर 1993, पृ. 46.

भारत के वर्तमान भयावह संकटों एवं जटिलताओं के बीच सांप्रदायिक फासीवाद की अंधी सुरंग के बाहर आने की आशावादी कल्पना की गयी है । इस तरह समकालीन लघुपत्रिकाओं ने साक्षात्कारों के माध्यम से अपनी साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान को कायम रखा है ।

समकालीन लघुपत्रिका और चित्रकला

कला अनुभूतियों का विज्ञान है जिसमें तनाव और अन्तर्विरोध के कई तत्व निहित हैं । आधुनिक युग में कला इसलिए अवश्य है कि मनुष्य संसार को समझ सके और बदल सके । "कलाकृति चाहे जितने बड़े एकांत में रची गयी हो - जैसे भी सामाजिक अलगाव के बीच, वह हमारे बीच कुछ प्रदर्शित करने के लिए ही आती है चित्र-भाषा का कोई मर्म कोई अन्तर्दृष्टि, कोई {कई} अनुभव और ऐसी कोई सच्चाई जो जिन्दगी जीने के काम आती है ।"[1] चित्र अभिव्यक्ति का एक कलात्मक साधन है । चित्र को अपनी एक भाषा होती है जिसके द्वारा वह दर्शकों से बातचीत करता है । चित्र के अनेक आयाम होते हैं और उसके रसास्वादन के अनेक क्षण भी हैं । वस्तुत: रचना और चित्रकला के बीच एक आत्मीयतापूर्ण संबंध मौजूद है । विश्रुत कला-आलोचक हेगल ने अन्ततोगत्वा साहित्य और चित्रकला को सामान्यतया कला के रूप में माने हैं । अज्ञेय, शमशेर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, प्रभाकर माचवे, विजेन्द्र, राजेश जोशी आदि ऐसे कवि हैं जिन्होंने चित्रकला के संवेदनात्मक पक्षों की शिनाख्त की है ।

---

1. प्रयाग शुक्ल, कला समीक्षा की जिम्मेदारियाँ, साहित्य वृत्त, मार्च-अप्रैल, 1992, पृ. 23.

समकालीन लघुपत्रिकाओं के सांस्कृतिक विकास के साथ चित्रकला का भी विकास हुआ है । लघुपत्रिकाओं की सांस्कृतिक पहचान को बनाये रखने में बहुत-से प्रतिभावान चित्रकारों ने अपने मूल्यवान सहयोग दिये हैं । आज लघुपत्रिका का जो गैर व्यावसायिक रूप दिखाई दे रहा है वह इन चित्रकारों का दिया हुआ है । अपने सौन्दर्यपरक, सिद्धांतपरक और दार्शनिक मुठभेडों के बावजूद सभी साहित्यिक लघुपत्रिकाएँ इस बिन्दु पर ज़रूर एकत्रित हुई हैं । समकालीन लघुपत्रिकाओं में प्राय: तीन प्रकार के चित्रों का इस्तेमाल किया जाता है - रेखाचित्र, मूर्ति चित्र और छाया चित्र जिनमें रेखाचित्रों का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक है । क्योंकि एक रेखाचित्र कूट व्याकरणिक (स्ट्रक्चुड ग्रैमटिकल) नियमों या रूढियों की अनिवार्य मध्यस्थता के बिना यथार्थ का सीधा प्रस्तुतीकरण करता है । इनके अलावा भारतीय चित्रकारों सहित, मैकेल एन्जलो, दाविंची, पिकासो जैसे विश्वविश्रुत कलाधर्मियों की मशहूर रचनाओं का भी मुद्रण लघुपत्रिकाओं के आवरण पृष्ठ पर हुआ है ।

भाऊसमर्थ, समकालीन लघुपत्रिकाओं से जुड़े हुए चित्रकारों में शीर्षस्थ हैं । उनका कलात्मक जीवन मृत्युपर्यन्त लघुपत्रिकाओं के लिए पूरी तरह समर्पित था । कला संबंधी उनकी अवधारणा था कि "कला का सर्वप्रथम धर्म यही है नवीनता, सामार्थ्य तथा प्रसन्नता को उभारते हुए आगत भविष्य का स्वागत किया जाय..... कला का उद्देश्य समझ में आते ही कलाकार को आधुनिक सभ्यता में अपनी भूमिका का बोध हो जाता है ।"[1] हिन्दी की करीब नब्बे फीसदी लघुपत्रिकाओं के आवरण पृष्ठ भाऊ समर्थ की

---

1. डा. मकबूल अहमद की पुस्तक समीक्षा "चित्रकला और समाज का रिश्ता" से उद्धृत, वसुधा, 11-12, 1987-88, पृ. 152.

ओजस्वी तूलिका द्वारा तैयार किये गये हैं । समकालीन लघुपत्रिकाओं का जो गैर व्यावसायिक तेवर है वह उनके रेखाचित्रों में प्रतिबिंबित होता है । उनकी कलाधर्मिता का सबसे सबल पक्ष यह है कि उसने बड़े बड़े घरानों, मठों या संस्थाओं की तरफ से निकलनेवाली घोर व्यावसायिक पत्रिकाओं की रंगीन दुनिया में लघुपत्रिका की एक अलग "स्पेस" ढूँढ निकाली है । भाऊ समर्थ ने अपने रेखाचित्रों के माध्यम से कला का जो सरलीकरण व जनतंत्रीकरण किया है उसको जयन्त, अनिल वशिष्ट, शशांक, सन्नू, विनोदकुमार दत्त जैसे चित्रकारों ने जारी रखा है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं में मुद्रित रेखाचित्रों में विविधता एवं विस्तार हैं । पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में जहाँ व्यावसायिक कला दर्शक वर्ग में एक खास प्रकार की उपभोक्तावादी मानसिकता उत्पन्न करती हैं वहाँ लघुपत्रिकाओं में छपे हुए रेखाचित्र छोटी-छोटी लकीरों के माध्यम से दर्शक वर्ग में नयी आस्वादनशीलता पैदा करते हैं ।[1] व्यावसायिक पत्रिकाओं के बहुरंगीन चित्र हमें अवश्य प्रलोभन देते हैं और चौंकाते हैं । लेकिन उनसे बढकर आस्वादक की संवेदना को जागृत करने में असफल बन बैठे हैं । संस्कृति को प्रदूषित करनेवाले बहुतेरे तत्व उनमें समाहित हैं । इसके विपरीत, समकालीन लघुपत्रिकाओं की कलाधर्मिता एक ओर मानवीय यातनाओं, अपेक्षाओं तथा उनके जीवन के त्रासद क्षणों को पकडती है और दर्शक की भीतरी जगत में अपना अमिट प्रभाव छोडती है । "पहल" की "स्केच बुक" परंपरा के आयोजन को इस संदर्भ में लिया जा सकता है जिसके अन्तर्गत समकालीन चित्रकारों की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित की गयी हैं । यह, रेखाचित्रों के प्रति समकालीन लघुपत्रिकाओं की जो "एप्रोच" है उसका प्रमाण है ।

---

1. देखिए परिशिष्ट - तीन

समकालीन लघुपत्रिकाओं की एक संपन्न कलादृष्टि है जो प्रगतिशील है । इसलिए उनके आवरण चित्र प्राय: किसी जीवन संदर्भ, सामाजिक समस्या और सांस्कृतिक विडंबनाओं को लेकर रचे जाते हैं ।[1] लघुपत्रिकाओं में नियत रूप से रेखाचित्रों को प्रकाशित करने के मूल में मुख्यत: कुछ और उद्देश्य निहित हैं, जैसे कि नयी सौंदर्यानुभूतियों का निर्माण, चित्रकला के क्षेत्र में अभिजातवाद का जो प्रभुत्व है उसका विरोध, चित्रकला की खोई हुई सरलता को पुन: दाखिल करना, रचना के यथार्थ के आकलन में सहायता देना, चित्रकला की प्रगति-यात्रा में सहयोग देना, भावुकता की सीमाओं को विस्तृत करना, रेखांकन के संवेदनात्मक आयामों के प्रति पाठकीय चेतना को जागरूक करना आदि । इनके अतिरिक्त उसका एक रचनात्मक पक्ष और भी है । वह, चित्रकला के सौन्दर्यशास्त्र के द्वारा लघुपत्रिकाओं के सृजनात्मक साहित्य को लाभान्वित करने का आग्रह है । क्योंकि सौन्दर्यशास्त्र एवं रचना धर्मिता की पारस्परिकता से साहित्य की संवेदना तथा आस्वादन के आयाम विकसित होते हैं और सूक्ष्म स्तर पर वह कविता, कहानी जैसी साहित्यिक विधाओं के शैल्पिक उत्कर्ष में काफी सहायक निकलती है ।

लघुपत्रिका और पाठक वर्ग

आज के समृद्ध वैज्ञानिक परिवेश में बड़ी बड़ी विकसित शक्तियाँ कई तरह के छद्म प्रलोभनों के माध्यम से विकासशील, अल्प विकसित तथा अविकसित देशों के विचार, संस्कृति, राजनीति, अर्थव्यवस्था आदि पर भयावह आघात पहुँचा रही हैं । भारत भी एक ऐसी देश है जिसका ऐतिहासिक

---

1. देखिए परिशिष्ट - तीन

मूल्य, राष्ट्रीय स्वाभिमान और स्वाधीनता इन शक्तियों के मधुवेष्टित आघात से जर्जरित हो रहे हैं । इस स्थिति में जनचेतना को उजागर करने के लिए लघुपत्रिका का संघर्षशील व संग्रामशील स्वरूप अधिक ज़रूरी हो गया है । लघुपत्रिका को वांछित स्वरूप दे देने में और जनधर्मी दृष्टि उपलब्ध कराने में पाठक वर्ग की भागीदारी कम महत्वपूर्ण नहीं है । यही लघुपत्रिका और पाठक वर्ग की पारस्परिकता का प्रस्थान बिन्दु है ।

लघुपत्रिका में साहित्य और पाठक का एक विशेष क्रम होता है जो प्राय: व्यावसायिक पत्रिका में अनुपलब्ध है । व्यावसायिक पत्रिका के लिए साहित्य महज एक उत्पाद है और पाठक तिर्फ उपभोक्ता । व्यावसायिक पत्रिका पाठक को वही सामग्री देती है जिसकी माँग मौजूदा उपभोक्ता सभ्यता से प्रभावित होकर वे अनजाने उठाते हैं । व्यावसायिक पत्रिका कभी इसकी परवाह नहीं करती कि उसकी दी हुई लोकप्रिय सामग्री का पाठक पर क्या असर हुआ है । मगर गैर व्यावसायिक लघुपत्रिका सामग्री के चयन और संपादन में एक अपेक्षित जागरूकता दिखाती है । वह वि-संस्कृतिकरण की चुनौतियों के प्रति पाठक वर्ग को सचेत करना अपना प्रथम और प्रमुख दायित्व मानती है । लघुपत्रिका की प्रत्येक कार्रवाई का निहित लक्ष्य एक ऐसे पाठक वर्ग को तैयार करना है जो लेखकों को "बधाई" व "धन्यवाद" देते हुए तृप्ति महसूस न करें, बल्कि कृति और विचार के सृजनात्मक एवं सांस्कृतिक समीक्षक बन रहें ।[1] इस प्रकार लघुपत्रिका उपभोक्ता-सभ्यता से युद्धरत सुधार-चेता पाठक वर्ग को संगठित करती है । वह पाठक और लेखक के आपसी संवाद के लिए एक खुले मंच का आयोजन करती है और साहित्य एवं संस्कृति के रचनात्मक विकास की

---

1. देखिए परिशिष्ट - दो

परिकल्पना करती है । इस दृष्टि से लघुपत्रिकाओं प्रकाशित होनेवाली पाठकीय प्रतिक्रियाओं का एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है । ये प्रतिक्रियाएँ कभी तो लघुपत्रिकाओं के पृष्ठों को लाँघकर बाहर चली जाती हैं और संगोष्ठियों का रूप धारण कर लेती हैं । "हंस" के अगस्त 1995 अंक में प्रकाशित अग्रलेख, "हिन्दी प्रदेश और वैचारिक संकट" पर कलकत्ता में आयोजित संगोष्ठि इस बात का ताज़ा उदाहरण है ।[1] यों लघुपत्रिकाओं के विचारात्मक एवं संवेदनात्मक स्तरों पर पाठकीय चेतना का गहरा असर बना रहता है ।

सांस्कृत प्रदूषण और उसके जिम्मेदार ताकतों के विरुद्ध मुहिम तेज करने के लिए समकालीन लघुपत्रिका पाठक वर्ग में सहयोग को अनिवार्य मानती है । पढ़ने की संस्कृति को कायम रखने और इलक्ट्रानिक संचार माध्यमों के नये बाज़ार तंत्र से उलझे हुए पाठक वर्ग की चेतना को उद्‌भुत करने के लिए समकालीन लघुपत्रिकाओं के लेखकों व संपादकों ने "पाठक चेतना अभियान" शुरू किया है । क्योंकि वे जानते हैं कि "पढ़ना व्यक्ति में जेहनीयत, व्यक्तित्व और सुरुचि पैदा करता है । पढ़ाई मानवीय भविष्य गढ़ती है । पढ़ना लड़ना है ।"[2] "टी.वी. प्रदूषण से घर को बचायें", "पढ़ने की संस्कृति वापस लायें;" "पुस्तक-पत्रिकाएँ समय काटने की चीज़ नहीं", "पढ़ें समय को जानने-जीनने- बदलने के लिए" जैसे नारे, पोस्टर, पाठक मेला, स्वयंसेवी संस्था आदि "पाठक चेतना अभियान" के प्रमुख कार्यक्रम हैं ।

---

1. लोकशासन, "हंस" के संपादकीय पर कलकत्ता में गोष्ठी, नवंबर 1995, पृ. 7.
2. बुलेटिन -3, पाठक चेतना अभियान, अगस्त 1994, पृ. 19.

समकालीन लघुपत्रिकाएँ पाठक वर्ग की सहयोगिता, सहभागिता और सहधर्मिता से सदा लाभान्वित हैं । उनमें अनिवार्यत: इसका ज्ञान है कि "कोई पाठक कोरा पाठक ही नहीं होता, वह स्रष्टा भी होता है ।"[1] समकालीन लघुपत्रिकाओं के सांस्कृतिक प्रयासों को दिशा और गतिशीलता प्रदान करने में पाठक की दायित्वभरी भूमिका है । अतएव पाठक वर्ग को लघुपत्रिका से जुड़ाने का सृजनात्मक उद्देश्य हरेक लघुपत्रिका में निहित है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं के बहुआयामी पक्षों के विश्लेषण के दौरान यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान दौर में समकालीन लघु-पत्रिकाओं ने आस्वादन और आलोचना के परंपरागत मापदंडों के स्थान पर एकदम नये प्रतिमानों को संस्थित किया है । यों ही वे समकालीन भावुकता एवं रचनाशीलता की वास्तविक प्रतिनिधि बनी हैं और उन्होंने लेखक व पाठक के साहचर्य का नया द्वार खुला है । आज की लघुपत्रिकाएँ लेखन की तमाम विधाओं के उन्नयन की हमराही हैं । उनमें सृजन की प्रत्येक धड़कन स्वाभाविक रूप से गूँज उठती है । उनमें भिन्न-भिन्न वादों तथा विचारधाराओं का लय संभव हुआ है । अर्थात् समकालीन लघुपत्रिकाएँ संघर्ष से बढ़कर समन्वय की प्रवृत्ति को प्रतिष्ठापित करती हैं जो आखिरकार उनकी संवेदना के वर्द्धमान आयामों का निदर्शन हैं ।

---

1. रणवीर रांग्रा (सं), साहित्य साधना और संघर्ष, रणवीर रांग्रा के लेख "लेखक की विकट समस्या पाठक" से उद्धृत, 1965, पृ. 113.

पंचम अध्याय

समकालीन साहित्यिक लघुपत्रिकाओं के सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार

लघुपत्रिका की सामाजिक और सांस्कृतिक संपृक्ति

साहित्य मूलत: एक सामाजिक उत्पाद है जिसका समाज के साथ सदा एक दृढ़ आत्मीयतापूर्ण रिश्ता है । साहित्य समाज की गति-विधियों व घटनाक्रमों से लाभान्वित है । उसका उत्कर्ष भी समाज में संभव होता है । प्रत्येक साहित्यकार की अन्तर्स्थली में समाज के प्रति गहरी निष्ठा है और समाज के प्रति सहज उत्तरदायित्व भी है । साहित्यकार अपनी चेतना से, अपने बोध से समाज की स्थितियों को देखकर और समझकर उनसे उद्वेलित होकर, उत्प्रेरित होकर, दुखी होकर, प्रताडित होकर, उत्तरदायित्व का बोध स्वयं ऊपर लेता है ।[1] समकालीन रचनाकारों के लिए तो प्रस्तुत दायित्वबोध रचना का एक अनिवार्य शर्त है । वस्तुत: इसी सृजन-मूल्य को सामाजिक सरोकार या संपृक्ति कहते हैं । वर्तमान लघुपत्रिकाओं की सामान्य अस्मिता तथा खूबी उसका सामाजिक सरोकार है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं के संदर्भ में सामाजिक सरोकार की अभिव्यक्ति की अनेक दिशाएँ हैं । उनमें सामाजिक संबंधों की वास्तविकता की तलाश मुख्य है । दरअसल वस्तु अथवा व्यक्ति-संबंधों के भीतर सामाजिक संबंधों की वास्तविकता नित्य आधारभूत रूप में रहती है ।[2] समकालीन लघुपत्रिकाओं के लेखक अपनी रचनाओं के माध्यम से उसका उद्घाटन करते हैं ।

---

1. भैरवप्रसाद गुप्त, साहित्य और साहित्यकार का दायित्व, लेखन, अप्रैल 1983, पृ. 56.
2. मुक्तिबोध, आखिर रचना क्यों, 1982, पृ. 25.

नतीजतन समाज के यथार्थ से पाठक वर्ग अवगत और परिचित हो जाते हैं । उन्हें समाज के अधिक निकट आने का मौका मिलता है जिससे उनकी प्रतिबद्धता के आयाम विकसित होते हैं और समाज का मानवीय अन्तर्सम्बन्ध दृढ़ बनता है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं की सामाजिक संपृक्ति का एक प्रबल पक्ष यह है कि वे समाज के विकास और परिवर्तन की तरफ हमेशा सचेत हैं । वास्तव में परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया साहित्य की परंपरा के भीतर चलती है और समाज की विकास-प्रक्रिया से प्रभावित होती है ।[1] इसलिए समकालीन लघुपत्रिकाएँ ऐसी प्रगतिशील रचनाओं को सर्वत्र प्रधानता देती हैं जिनमें समाज को परिवर्तित करने की ऊर्जा हो । समकालीन लघुपत्रिकाओं के ज़्यादातर संपादक परिवर्तन के महज दर्शक या लेखा-जोखा रखनेवाले नहीं हैं, बल्कि वे परिवर्तन की प्रक्रिया के सक्रिय सहगामी हैं । वे संवेदना की सीमाओं को विस्तृत करते हुए संस्कृति, समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन एवं अर्थनीति विषयक विचार और परिसंवाद को महत्व देते हैं । साथ ही वे भारतेन्दु, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद, निराला, राहुल सांकृत्यायन जैसे अतीत के महापुरुषों की रचनाओं को, समसामयिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक स्थिति से अनुभूत होकर, नये संदर्भों में पुनः प्रकाशित करते हैं । इसप्रकार वे समकालीन लेखन की सामाजिक चेतना को तीव्रता प्रदान करते हैं ।

---

1. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, 1984, पृ. 65.

समकालीन लघुपत्रिकाओं की सामाजिक प्रतिबद्धता अपेक्षाकृत रचनात्मक है । वे समाज की विभिन्न समस्याओं, चुनौतियों, वासनाओं व विकृतियों का पर्दाफाश करती हैं । वे लगातार समाज के वैज्ञानिक विकास के स्वाभाविक प्रवाह को अवरुद्ध करनेवाली यथास्थितिवादी तथा प्रतिक्रियावादी ताकतों के खिलाफ एक खास लेखकीय जागृति उत्पन्न करने में कार्यशील हैं । उनमें साहित्य को जनान्दोलनों के निकटस्थ लाने की कामना है । अत: समकालीन लघुपत्रिकाएँ बडी संख्या में पाठकवर्ग की मोर्चा आयोजित करती हैं और एक संघर्षशील समाज की निर्मिति में स्वयं समर्पित होती हैं ।

मानव मात्र की प्रगति-यात्रा के इतिहास में संस्कृति का विशिष्ट स्थान है । संस्कृति एक महान जीवनमूल्य है । उसे एक ऐसे विस्तृत संयोगित करनेवाले उपकरण के रूप में परिभाषित किया गया है जो प्रशिक्षण के द्वारा योग्यताओं को प्रदान कर मान्यताओं से और रुचियों के विकास से प्रकृति के साथ स्वभाव को मिला देता है ।[1] सृजन और संस्कृति के बीच गहरा संबंध है । वे लगातार एक दूसरे से लाभान्वित हैं । क्योंकि "प्रत्येक लेखक और कलाकार अपने युग की उस प्रभुत्वशाली संस्कृति की उपज होता है जिसमें वह जीता और रचना करता है ।"[2] समकालीन लघुपत्रिकाओं का एक

---

1. प्रो. रघुवंश, भारतीय संस्कृति का रचनात्मक आयाम, 1989, पृ. 47.
2. ई. एम. एस, नम्बूदिरिपाड, कला, साहित्य और संस्कृति, प्रयोजन, अप्रैल-जून, 1986, पृ. 31.

ओजस्वी सांस्कृतिक पक्ष है । उनके संदर्भ में संस्कृति नयी राजनैतिक एवं सामाजिक गतिविधियों की प्रजातांत्रिक प्रतिक्रिया है और सामाजिक वर्ग की नवीन समस्याओं की जटिलतापूर्ण एवं प्रगतिशील अनुक्रिया है । समकालीन लघुपत्रिकाओं में इसका सम्यक ज्ञान है कि आज संस्कृति चुनौतियों की बहुविध तंत्र गलियों से होकर गुज़र रही है । इनमें से कुछ तो अन्तर्देशीय हैं और कुछ देशीय । साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद, विश्वबैंक, मुक्त बाज़ार, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, गैट व डंकल प्रस्ताव, युद्ध की विभीषिका आदि को अन्तर्देशीय चुनौतियों के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है जिनका आत्माघातक असर समग्र विकासशील देशों पर निरंतर पड रहा है । अतएव इन चुनौतियों का सही सामना कोई देश, जनता, साहित्य या संस्कृतिक कर्मी अकेले नहीं कर पाता । उसके लिए एक विस्तृत संगठन की अनिवार्यता है । संस्कृति की कुछ और चुनौतियाँ भी हैं जिन्हें सामान्यत: देशीय बतायी जा सकती हैं । यद्यपि सांप्रदायिकता, अंधराष्ट्रवाद, पुनरुत्थानवाद, आतंकवाद, जातिवाद, नारी-उत्पीडन, पर्यावरण का प्रदूषण सरीखी समस्याओं का विचार-विमर्श देशीय समस्याओं में होता है फिर भी उनका एक सशक्त अन्तर्देशीय पक्ष है । आम तौर पर समकालीन लघुपत्रिकाओं के सामने ये भयावह सांस्कृतिक चुनौतियाँ हैं । अपने सीमित साधनों के बावजूद विचार एवं सृजन के स्तर पर वे इन चुनौतियों की प्रतिक्रिया पेश कर रही हैं । "नया पथ" में प्रकाशित घोषणा पत्र इस तथ्य का साक्ष्य है -"सांप्रदायिकता, संकीर्णता, जातिवाद, पुनरुत्थानवाद, विघटनवाद तथा अंतराष्ट्रवाद और भाषा तथा क्षेत्रीयता के नाम पर जनता और राष्ट्र की एकता को तोडनेवाली शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष में 'नया पथ' आप के साथ है ।"[1] यह घोषणा

---

1. नया पथ, अक्तूबर-दिसंबर 1992, पृ.8.

समकालीन लघुपत्रिकाओं के सांस्कृतिक सरोकार का दिशा-निर्देशक है ।

संसार की इतर संस्कृतियों की तुलना में भारत की संस्कृति बहुत पुरानी है जो अनेक छोटी-छोटी संस्कृतियों का सामूहिक रूप है । उसमें अन्तर्विरोधी तत्वों का अनूठा विलय है । प्रत्येक युग की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रवृत्तियों की तरफ वह सचेतन रही है । मुख्यत: भारतीय संस्कृति की चार खूबियाँ हैं - विभिन्न जीवन प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय की स्थापना, नैतिक व्यवस्था की स्थापना, आचरण की शुद्धता तथा आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति ।[1] लेकिन वर्तमान युग में भारतीय संस्कृति बहुतेरी जटिलताओं से सतायी जा रही है । धर्म व परंपरा के नाम पर संस्कृति के विकास में रोक लगायी जा रही है और मानव को विज्ञान तथा तकनालजी की अधुनाधन उपलब्धियों से वंचित कर अतीत की ओर लौटाने का प्रयास हो रहा है । नवजागरण के उच्च आदर्शों को विनष्ट करते दिखाई देते हैं । साथ-साथ भारत की संस्कृति को धर्म के आधार पर परिभाषित करने का प्रयास भी चलता है जिसके वास्तविक उद्देश्य को "इसलिए" के संपादकीय में यों स्पष्ट किया गया है -" ये पुनरूत्थानवादी धर्म और संस्कृति के नाम पर भूतकाल में जो भी अमानवीय, तर्कहीन, गर्हित और घृणित रहा है, उसे लौटाना चाहते हैं। यह मानव विरोधी व्यवस्था चलाने और उसे ज़्यादा अमानवीय बनाने का देशव्यापी षड्यंत्र है ।"[2] समकालीन

---

1. आचार्य नरेन्द्र देव, साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति, 1988, पृ. 139-141.
2. संपादकीय, इसलिए, मार्च 1984, पृ. 10.

लघुपत्रिकाएँ इस षड्यंत्र सहित हमारी महान संस्कृति की अन्य चुनौतियों पर गंभीरतापूर्वक चिंतित हैं । विवेच्य विषय यह है कि समकालीन लघुपत्रिकाएँ इन चुनौतियों का रू-ब-रू किन किन स्तरों पर कर रही हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं का सांप्रदायिकता विरोधी दृष्टिपथ

सांप्रदायिकता एक भयावह संक्रामक रोग है जिससे भारतीय समाज पूरी तरह पीडित हो रहा है । उसने भारत के विश्रुत धार्मिक सौहार्द के सामने गंभीर खतरा खडा कर दिया है । दरअसल धार्मिक सौहार्द एक उच्च आदर्श है, महान मूल्य है और राष्ट्र का मूलाधार है । भारत के संदर्भ में धार्मिक सौहार्द की स्थिति को बनाये रखना, एक सांस्कृतिक अनिवार्यता है । अतएव भारत के तमाम शब्दकर्मी, रंगकर्मी, इतिहास लेखक और बुद्धिजीवी वर्ग भारत की बढती सांप्रदायिक एतराज पर चिंतित उठे हैं और भारत की बिगडती धार्मिक एकता तथा राष्ट्रीय अखंडता को बचाने के लिए बहुविध कार्रवाइयों में लगे हुए हैं । संगोष्ठी, संवाद, प्रदर्शनी, जन-जागृति अभियान आदि उनके प्रमुख आयोजन हैं । सांप्रदायिकता की विकासशील प्रवृत्तियों के प्रति हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाओं ने पर्याप्त ध्यान दिया है । प्राय: सभी लघुपत्रिकाओं में सांप्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं पर विचारोत्तेजक आलेख प्रकाशित हुए हैं जिनमें मुख्य रूप से इस बात पर बल दिया गया है कि इस देश के समस्त देशानुरागी, स्वतंत्रता-प्रेमी और मानवतावादी लोगों का कर्तव्य है कि वे सांप्रदायिकता की समस्या समझें, उसका विरोध करें और सांप्रदायिकता के वास्तविक समाधान के लिए

वास्तविक संघर्ष चलायें ।[1] इनके अतिरिक्त कविता, कहानी, नुक्कड नाटक, साक्षात्कार, रिपोतार्ज आदि के माध्यम से उन्होंने एक विशिष्ट सेकुलर विचारधारा का प्रचार किया है ।

वर्तमान दौर में सांप्रदायिकता के खिलाफ अनेक लघुपत्रिकाओं ने महत्वपूर्ण विशेषांक निकाले हैं । सामान्यतः इन अंकों का उद्देश्य है सांप्रदायिकता के सभी पहलुओं को समझकर राष्ट्रीय एकता और सामाजिक सद्भाव के लिए खतरा पैदा करनेवाली इस महामारी के खिलाफ कारगर संघर्ष चलाया जा सके ।[2] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने लेखकों, पत्रकारों, इतिहासकारों एवं संस्कृतिककर्मियों को बडी मात्रा में एकत्रित किया है । कुछ प्रमुख सांप्रदायिकता विरोधी अंकों की सूची नीचे दी जा रही है -

गवाह	- जनवरी-सितंबर, 1981.
उत्तरार्द्ध	- अक्तूबर, 1987.
अब	- अक्तूबर, 1990.
नया पथ	- अक्तूबर-दिसंबर, 1992.
बहुमत	- फरवरी-जुलाई, 1993.
परिवेश	- अप्रैल-सितंबर, 1993.
एक और अंतरीप	- सितंबर, 1987.
कतार	- नवंबर, 1993.
दस्तक	- जनवरी, 1994.

---

1. रमेश उपाध्याय, सांप्रदायिकता के विरुद्ध वास्तविक संघर्ष करें, दस्तक, अप्रैल, 1993, पृ. 8-9.
2. संपादकीय, उत्तरार्द्ध, अक्तूबर 1987, पृ. 4.

इन विशेषांकों ने समग्रता में सांप्रदायिक उन्माद के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सांप्रदायिकता की असलियत और भयावहता की पहचान की है, पाठक वर्ग में धर्मनिरपेक्षता एवं धार्मिक सौहार्द की भावना को उद्दीप्त किया है, सांप्रदायिकता से लड़ने के लिए लेखकों, पाठकों तथा संस्कृतिक कार्यकर्ताओं की मोर्चा गठ ली है और सृजन के स्तर पर सांप्रदायिकता की समस्या को उभारा है ।

समकालीन लघुपत्रिकाएँ सांप्रदायिकता के इतिहास की सही समझ रखती हैं । वे जानती हैं कि साम्राज्यवादी ताकतों के आगमन के पूर्व भारत में न धर्म के आधार पर न तो राजनीति होती थी और न शासन चलता था । हमारे अतीत के इतिहास में सांप्रदायिक दंगों का एक उदाहरण भी उपलब्ध नहीं है । ब्रिटिश सत्ता की "फूट डालो और राज्य करो" वाली कुटिल नीति के अन्तर्गत ही सांप्रदायिकता की व्याप्ति हुई है । उन्होंने अपनी सत्ता को प्रतिष्ठित करने के हेतु सांप्रदायिकता के तेज हथियार का प्रयोग किया है । भारतवर्ष में विकसित होनेवाले राष्ट्रीय बोध को कुचल देने के लक्ष्य से अंग्रेज़ों ने भाषा, धर्म और संप्रदाय के आधार पर भारतीयों को विभक्त किया है । समकालीन लघुपत्रिकाओं में सांप्रदायिकता के उत्थान के इस ऐतिहासिक प्रकरण का सम्यक ज्ञान है जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने यों की है -"अंग्रेज़ों के शासनकाल में धार्मिक भेदभाव का बड़े व्यवस्थित ढंग से शासकीय नीति का अंग बनाकर उपयोग किया गया । कभी एक संप्रदाय की पीठ ठोंकी, कभी दूसरे की, कभी एक को कुछेक सुविधाएँ और अधिकार

दिये, कभी दूसरे को । कभी एक भाषा को मान्यता दी कभी दूसरी भाषा को ।"[1] इस तरह धार्मिक विद्वेष को पूरे राजनीतिक संघर्ष में रूपांतरित करने का श्रेय अंग्रेज़ों को जाता है ।

भारत के धार्मिक संतुलन को आपत्ति पहुँचाने में औपनिवेशिक इतिहास-दृष्टि का योगदान है । औपनिवेशिक इतिहासकारों ने भारतवर्ष को धर्म से परिभाषित किया और इतिहास की अपव्याख्या की । इतिहास को उन्होंने "हिन्दु काल और मुस्लिम काल" में विभाजित किया[2] और हिन्दु-मुस्लिम जनता में फूट डालने के लिए तरह तरह के झूठ गढ़े और फैलाये ।[3] अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए तथा समाज में सांप्रदायिक दरार पैदा करने के लिए भाषा को भी एक शस्त्र माना गया था । परिणामस्वरूप "हिन्दी" हिन्दुओं की और "उर्दू" मुसलमानों की भाषा हो गयी । हलांकि इस भाषा का मूल शब्द भंडार और व्याकरण विधि बराबर थी । यों धीरे-धीरे औपनिवेशिक इतिहास लेखन ने जनता की साझी सांस्कृतिक विरासत को नष्ट कर दिया जिसका परिणाम है समकालीन सांप्रदायिकता ।

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की आपसी लेन-देन से पल्लवित भारत का गौरवमयी सांस्कृतिक नैरंतर्य, आज सांप्रदायिकता के चंगुल में

---

1. भीष्म साहनी, साक्षात्कार से उद्धृत, अब, अक्तूबर 1990, पृ. 7.
2. संपादकीय, उत्तरार्द्ध, अक्तूबर 1990, पृ. 4.
3. राजीव सक्सेना, परिसंवाद से उद्धृत, दस्तक, जनवरी 1994, पृ. 26.

फँसकर चकनाचूर्ण होता दिखाई देता है । साम्राज्यवाद और शोषक वर्ग की चालों का मुकाबला करने के लिए ज़रूरी जनता की जुझारू एकता और वैचारिक स्पष्टता के विकास में यह बहुत बड़ी बाधा है ।[1] आज़ादी के बाद भारत सरकार ने सांप्रदायिकता विरोधी घोषणाएँ ज़रूर की हैं । किन्तु उसने ऐसा कुछ नहीं किया जो मजहब तंग दिल को दूर करता और राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाता । दूसरी तरफ भारतीय गणराज्य के संविधान में धर्मनिरपेक्षता के आदर्शों का प्रावधान तो रखा गया है किन्तु देश को धर्म से अलग करके धर्म को व्यक्तिगत आस्था का विषय बनाने की जगह उसे सभी धर्मों का देश बना दिया है । इसमें धर्म के प्रति तटस्थता का भाव न होकर सत्ता द्वारा सारे धर्म को समान रूप से प्रोत्साहन देने का सेवा-भाव है ।[2] इस अर्थ में सांप्रदायिकता के प्रसार के लिए सत्ताधारी भी कम उत्तरदायी नहीं रहे हैं । अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति की वजह से अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने भारतीय समाज के बहिरंगी अंतर्विरोधों का जिस टेढ़ापन के साथ उपयोग किया था, उसी क्रम में सत्ता भी जन-सामान्य का शोषण करती आ रही है । समकालीन लघुपत्रिकाओं ने सांप्रदायिकता की भयंकरता को इसी परिवेश में समझा-समझाया है ।

भारत के अतीत और वर्तमान की तुलना इसका गवाह है कि आजकल सांप्रदायिकता का प्रवाह उच्छृंखल गतिशीलता हासिल कर रहा है ।

---

1. संपादकीय, जिज्ञासा, प्रवेशांक, पृ. 13.
2. राजू रंजन प्रसाद, धर्मनिरपेक्षता का अन्तर्विरोध, बहुमत, फरवरी-जुलाई 1993, पृ. 43.

इतिहास की गलत परिभाषा, रूढिवाद एवं जातीय अस्मिता के साझी दस्तावेज के निषेध के द्वारा, सांप्रदायिकता एक खास विचारधारा के रूप में ढल गयी है । "इस विचारधारा के अविच्छिन्न नतीजे हैं - सांप्रदायिक दंगे और सांप्रदायिक हिंसा ।"[1] इसकी कार्य-पद्धति के अनेक आयाम होते हैं जिनमें प्रमुख हैं, किसी विशेष धर्म के अनुयायियों के बीच प्रचरित जातीय विशिष्टता तथा सांस्कृतिक पहचान को अप्रासंगिक करके या विनष्ट करके आम जनता के ऊपर, छद्म धार्मिक समवेत को बलपूर्वक थोप देना । असल में प्रस्तुत छद्म एकता वर्गचेतना सहित भारत के राष्ट्रीय सद्भाव एवं सांस्कृतिक परंपरा का नकार करती है ।

समकालीन सांप्रदायिकतावाद समकालीन युग विशेष की पैदाइश है । वह धर्म की राजनीतिक व्याख्या की करुण त्रासदी है । मठाधीशों द्वारा सत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त करने के लक्ष्य से जनता को धर्मों के आधार पर एकत्रित करने की प्रक्रिया में उसका विकास संभव हुआ है । समकालीन लघुपत्रिकाएँ धर्म को राजनीति से अलग करने की हिमायती हैं । उनके अनुसार जब धर्म को राजनीति का अंग बना लेते हैं, तब सांप्रदायिकता का वास्तविक भयावह रूप प्रस्तुत हो जाता है ।[2] दरअसल: धर्म व्यक्ति का निजी आचरण है । उससे भिन्न राजनीति के कई समष्टिगत उद्देश्य होते हैं । व्यापक स्तर पर सांप्रदायिक राजनीति की विजयी होने का अर्थ है, देश का

---

1. विपिन चन्द्र, सांप्रदायिकता पर हमला, नया पथ, अक्तूबर-दिसंबर 1992, पृ. 17.
2. भीष्म साहनी, सांप्रदायिकता एक विकराल समस्या, नया पथ, जनवरी-मार्च 1991, पृ. 27.

विघटन, हिंसा का उन्माद, जनतंत्र की मृत्यु, शोषण-उत्पीडन की व्याप्ति और नारी-मुक्ति के आग्रहों पर विराम चिह्न । "जो रामद्रोही है वह राज्यद्रोही" है, जैसे नारे, राष्ट्रीय संग्राम की धरोहर धर्मनिरपेक्षता, कबीर, नानक, रहीम, रसखान, आदि को मानवतावादी परंपरा तथा स्वयं भारत के संवैधानिक आधार को ही ललकार करते हैं । भारत की धर्मनिरपेक्षता के यशस्वी मूल्यों को बर्बाद करने में बहुसंख्यक सांप्रदायिकतावादियों के साथ अल्पसंख्यक सांप्रदायिकतावादियों की भी ठोस भूमिका रही है ।[1] वर्षों पहले मशहूर वामपंथीय पत्र "मुक्तधारा" के 17 अगस्त 1968 ई. के अंक में सांप्रदायिकता के एकांगी दृष्टिकोण की आलोचना इसप्रकार हुई है कि वह सांप्रदायिक तत्वों को मज़बूत और सांप्रदायिकता विरोधी तत्वों को कमज़ोर करता है ।[2] "उत्तरार्द्ध", उत्तरगाथा", "दस्तक", "अभिव्यक्ति" "कतार" जैसी लघुपत्रिकाएँ इस विषय पर विशेषकर चिंतित हुई हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने विविध कोणों से सांप्रदायिकता के विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं । उनमें सांप्रदायिकता के ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संदर्भों के साथ उसके वर्ग-संदर्भ का भी उद्घाटन हुआ है ।[3] उनमें धर्मनिरपेक्षता को समाजवादी समाज के निर्माण के संघर्ष का एक महत्वपूर्ण अंग माना गया है । अधिकाधिक जनधर्मी लघुपत्रिकाएँ इस बात की

---

1. कमलेश्वर, परिसंवाद-1 से उद्धृत, दस्तक, जनवरी 1994, पृ. 11.
2. अमृतराय, आधुनिक भावबोध की संज्ञा, 1972, पृ. 179.
3. डॉ. हरबंस मुखिया, सांप्रदायिकता के आधार एक विश्लेषण, जिज्ञासा, प्रवेशांक, पृ. 30.

जानकारी रखती हैं कि शोषण और न्यायहीन आर्थिक व्यवस्था की मज़बूत दीवार, संगठित किसानों, मज़दूरों, व्यापक अर्थ में सर्वहारा वर्ग के हस्तक्षेप के बिना नहीं गिरा जा सकती । इस संगठित हस्तक्षेप की बुनियादी ज़रूरत है, वर्ग-चेतन जनता की एकता जिसपर सांप्रदायिकता अवश्य रोक लगा देती है, समकालीन लघुपत्रिकाएँ सांप्रदायिकता के इस संदर्भ को पकड़ती हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाएँ अपने सांप्रदायिकता विरोधी अंकों द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि भारत वर्ष पिछले कुछ दशकों से जिन-जिन समस्याओं से गुज़र रहा है उनमें से सर्वाधिक घातक तथा कुत्सित समस्या सांप्रदायिक भावना है । वह समाज को विघटित करती हुई वैमनस्य और घृणा का वातावरण गढ़ती है, धर्मों की आपसी नैसर्गिक एकता पर कुठाराघात करती है, विकास के प्रवाह को रोकती है और राष्ट्र की अखंडता को खतरे में डालती है । समाज में सांप्रदायिक मनोवृत्ति को प्रोत्साहित करने में समाचार पत्रों तथा सरकारी संचार माध्यमों की विशेष भूमिका है जिनपर मौजूदा लघुपत्रिकाएँ कई बार प्रकाश डाल चुकी हैं ।[1,2] उनके लिए राष्ट्र-हित को सर्वोपरि मानना सेकुलर मूल्यों पर बल देने वाले रचनात्मक कार्यक्रमों का आयोजन और वस्तुस्थिति के प्रति पाठक वर्ग की चेतना को जागृत करना अपना चरम दायित्व है । "परिवेश" के सांप्रदायिकता विरोधी

---

1. चारुगुप्ता, समाचार पत्र और सांप्रदायिकता, उद्भावना, अंक 29-30, पृ. 61.
2. रघुवीर सहाय, सांप्रदायिकता सर्वसत्तावाद का अभियान, नया पथ, जनवरी-मार्च 1991, पृ. 30.

अंक के संपादकीय लेख की ये पंक्तियाँ इसका सबूत हैं - "परिवेश का यह आयोजन {सांप्रदायिकता विरोधी अंक} न तो प्रायोजित है और न सीमित संकीर्ण दूकानदारी । यह आँधी तूफान और भीड के उन्माद में शांत और स्थिर खडे रहनेवाले धीरमति लोगों का संकल्प है जिन्हें तो न चुनाव में टिकट चाहिए, न मंदिर और मस्जिद । चाहिए तो बस एक विवेकपूर्ण समझदारी-भरा समाज जो परस्पर सम्मान और समानता पर आधारित हो । जहाँ इतिहास के साथ मनमाना फासिस्ट सलूक करनेवालों को कठघरे में खडा करके गलत कहा सके ।"[1] समकालीन लघुपत्रिकाओं के सांप्रदायिक विरोधी अंकों का यही सामान्य आदर्श और मूल्यदृष्टि है ।

आज के कठिन वातावरण में सांप्रदायिकता की बहुआयामी चुनौतियों को निबटने में लेखकों, इतिहासकारों, मनोवैज्ञानिकों, पत्रकारों तथा बुद्धिजीवियों की संयुक्त मोर्चे की जीवन्त प्रासंगिकता है । समकालीन लघुपत्रिकाओं ने इस बात पर ज़्यादा ज़ोर दिया है । उनके तत्वावधान में सांप्रदायिकता को लेकर बहुविध परिसंवाद आयोजित हुए हैं जिनमें "कथन"[2] "नया पथ"[3] और "दस्तक"[4] द्वारा संचालित परिसंवाद विशेषकर चर्चित हुए हैं । इन संवादों के अन्तर्गत मुख्य रूप से धर्म और सांप्रदायिकता की पारस्परिकता, सांप्रदायिकता के विभिन्न स्वरूप, धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा, धर्मनिरपेक्षता का भारतीय संदर्भ धार्मिक पुनरुत्थानवाद की असलियत जैसे

---

1. परिवेशगत, परिवेश, अप्रैल-सितंबर 1993, पृ. 4.
2. कथन, जुलाई-सितंबर, 1983, पृ. 37.
3. नया पथ, जनवरी-मार्च 1991, पृ. 26.
4. दस्तक, जनवरी, 1994, पृ. 10.

वर्तमान सांप्रदायिकता के भिन्न-भिन्न पहलुओं की वैज्ञानिक पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । निष्कर्षतः इस परिसंवादों ने इन मुद्दों को प्रेषित किया है - भारतीय संस्कृति मूलतः न धार्मिक है न सांप्रदायिक, सांप्रदायिकता मनुष्यता और इन्सानियत की घोर विरोधी है, अंधराष्ट्रवाद और धार्मिक पुनरुत्थानवाद सांप्रदायिकता का छद्म रूप है जो अन्ततोगत्वा फासिज़्म" है, धार्मिक विचार, धर्मोपदेश, धर्मग्रंथ आदि सांप्रदायिकता को बढावा नहीं देते, किन्तु संस्थागत धर्म ज़रूर देता है और धर्मोन्माद के खिलाफ धर्मनिरपेक्षता एवं सेकुलरिज़्म के विशिष्ट तत्वों को प्रचरित करना, मानव संस्कृति की प्राथमिक अपेक्षा है ।

भारत की खोती हुई मानवीयता और सांस्कृतिक अस्मिता को पुनः संस्थापित करने के लक्ष्य में अनेक लघुपत्रिकाओं ने "सांप्रदायिकता विरोधी अभियान" मुद्रित किये हैं । अभिव्यक्ति के सत्रहवें अंक में प्रकाशित "मैं कौन हूँ" इसका उदाहरण है । उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं -

"मैं हिन्दु हूँ न मुसलमान, सिख हूँ न ईसाई । मेरा कोई धर्म नहीं, ईमान नहीं । मगर मुझे मंदिर चाहिए, मस्जिद चाहिए, गिरजाघर चाहिए । इसलिए नहीं कि मुझे वहाँ जाकर उपासना करनी है, या आध्यात्मिक शांति प्राप्त करनी है, या अपने पापों का प्रायश्चित्त करना है या सच्चाई और अच्छाई के रास्ते पर चलने का कोई संकल्प लेना है । नहीं, इन चीज़ों में मेरी कोई आस्था नहीं । मेरा तो किसी ईश्वर,

अल्लाह, गुरु या मसीह में कोई विश्वास नहीं । मुझे तो मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे और गिरिजाघर इसलिए चाहिए कि अपने धन्धे के लिए उनका इस्तेमाल कर सकूँ ।"[1] यहाँ व्यंग्यात्मक शैली में सांप्रदायिकता की मूलभूत मनोवृत्ति की तरफ संकेत किया गया है । इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या के विरुद्ध प्रमुख इतिहासकारों के वक्तव्य का प्रकाशन करते हुए "वसुधा" ने भी अपने सांस्कृतिक बोध को प्रकट किया है ।[2] यह अवश्य समकालीन लघुपत्रिकाओं के सांप्रदायिकता विरोधी कार्यक्रम का सार्थक मोड है ।

हिन्दी के वर्तमान लेखक सांप्रदायिकता की विपत्तियों एवं विभीषिकाओं से अपेक्षाकृत सावधान हैं । समकालीन लघुपत्रिकाओं में इसकी भरपूर झाँकियाँ प्राप्त हैं । सृजन के स्तर पर दूषित सांप्रदायिक भावना की निंदा और धिक्कार हिन्दी की लघुपत्रिकाओं ने जितनी ऊँचे स्वर में किये हैं उतने न किसी हिन्दीतर भाषा की लघुपत्रिका ने किये हैं । समकालीन परिदृश्य में, विशेषकर नवें दशक की लघुपत्रिकाओं में सांप्रदायिकता विषयक अनेक रचनाएँ पढने को मिलती हैं जो सांप्रदायिक सद्भावना को स्थिर रखने की सांस्कृतिक अनिवार्यता को रेखांकित करती हैं । यहाँ कुछ ऐसी प्रमुख सृजनात्मक रचनाओं के विवरण दिये जा रहे हैं जिन्होंने सांप्रदायिकता विरोधी अभियान में उल्लेखनीय भूमिका अदा की है ।

---

1. अभिव्यक्ति, जुलाई-सितंबर, 1993, पृ. 58.
2. वसुधा, इतिहास का राजनीतिक दुरुपयोग, अंक 19, पृ. 5.

कविता

धार्मिक दंगों की राजनीति शमशेर बहादुर सिंह, उत्तरार्द्ध, अक्तूबर 1987, पृ. 15.

तेरी खापेड़ी के अन्दर नागार्जुन, कथन, सितंबर 1983, पृ. 7.

अर्थहीनता त्रिलोचन, परिवेश, सितंबर 1993, पृ. 128.

क्रौंचवध कुंवरनारायण, वही, पृ. 131.

दंगे में मारे गये पत्रकार अग्निमान विष्णुचन्द्र शर्मा, वही, पृ. 132.

विध्वंस के बाद ज्ञानेन्द्रपति, वही, पृ. 157.

दंगा गोरख पाण्डेय, नया पथ, दिसंबर 1992, पृ. 67.

कोई दुर्घटना हुई नंद चतुर्वेदी, उत्तरार्द्ध, अक्तूबर 1967, पृ. 16.

कर्फ्यू का तमगा लटकाये मैं खबरबीस हुआ लीलाधर मंगडोई, उद्भावना, अंक 29-30, पृ. 27.

बर्बर अशोक वाजपेयी, अन्तर्दृष्टि, अंक-3, पृ. 23.

दंगा नरेन्द्र मोहन, प्रतिशीर्षक, मार्च 1992, पृ. 19.

हमारा डर राजेश जोशी, उद्भावना, अंक 29-30, पृ. 18.

ईश्वर और धर्म मानबहादुर सिंह, अब, अक्तूबर 1990, पृ. 54.

मस्जिद में राम विष्णु नागर, वर्तमान साहित्य,

ईश्वर का दु:ख प्रेमचन्द गाँधी, दस्तक, जनवरी 1994, पृ. 83.

कहानी

झुटपुटा भीष्म साहनी, पहल, सितंबर 1985, पृ. 29.

मैं तुम्हें मार दूँगा राजेन्द्र यादव, नया पथ, दिसंबर 1992, पृ. 83.

छोटे इमाम की बकरी पुन्नीसिंह, दस्तक, जनवरी 1994, पृ. 44.
इमाम चौंक नहीं बैठेगा रमाकांत, अब, अक्तूबर 1990, पृ. 58.
क्या तुमने कभी कोई सरदार भिखारी देखा स्वयंप्रकाश, पहल, सितंबर 1985, पृ. 171.
पेड़ अब्दुल बिस्मिल्लाह, नया पथ, दिसंबर 1992, पृ. 106.
भगवान की तलाश गुरुबचनसिंह, अब, अक्तूबर 1990, पृ. 70.
टुकड़े-टुकड़े में हुई पहचान पलाश विश्वास, कतार, नवंबर 1993, पृ. 74.
सफर के साथ जवाहर सिंह, उत्तरार्द्ध, अक्तूबर 1987, पृ. 44.
उत्तरार्द्ध अभय, कथन, सितंबर 1983, पृ. 19.
दूसरी बाबरी मस्जिद आगा गुल, उद्भावना, अंक 29-30, पृ. 4.

इनके अतिरिक्त सांप्रदायिकता विषयक अनेक नुक्कड़ नाटक भी समकालीन लघुपत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं । वस्तुतः इन रचनाओं के प्रयोजन के तीन चरण हैं । वे पाठक वर्ग की अन्तर्स्थली में गैर सांप्रदायिक भावना को उत्पन्न करती हैं, वे रचना के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रतिबद्धता को दृढ़तर बनाती हैं और समकालीन लघुपत्रिकाओं की सांप्रदायिकता विरोधी सांस्कृतिक मुहिम को तीव्रता देती हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाएँ सांप्रदायिक हिंसा के विरुद्ध धार्मिक सौहार्द और सांस्कृतिक सद्भाव के लिए सदा खड़ी हुई हैं । उन्होंने बुलेटिन, पर्चे, कविता पोस्टर, पदयात्रा, छोटे-बड़े सम्मेलन, सांस्कृतिक संगम आदि के

माध्यम से टूटी हुई श्रृंखलाओं को जोडने का महान कार्य किया है । लघुपत्रिका समन्वय समिति के द्वितीय राष्ट्रीय अधिवेशन, जो बिहार के जमशेदपुर में मई 1994 को संपन्न हुआ था, उसका केन्द्रीय विषय था सांप्रदायिकता की चुनौतियाँ । लघुपत्रिकाओं ने बडे घरानों से निकलनेवाली व्यावसायिक पत्रिकाओं तथा संस्थाओं की तरफ से प्रकाशित प्रतिष्ठानी पत्रिकाओं से अलग एक तरीका अपनाया है । उन्होंने सांप्रदायिकता से लडने के लिए रचनाकारों, इतिहासवेत्ताओं, समाजशास्त्रियों, संस्कृतिक कर्मियों, राजनीतिज्ञों, मनोवैज्ञानिकों एवं पाठक दलों को एकत्रित किया है । सांप्रदायिकता के संदर्भ में लघुपत्रिकाओं की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होंने सांप्रदायिकता की समस्या को, देश की अन्य जटिल समस्याओं से जोडकर देखा-परखा है और राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, नयी आर्थिक नीति, बहुराष्ट्रवाद, फासीवाद आदि के परिप्रेक्ष्य में उसका विचार-विमर्श किया है ।

साम्राज्यवाद के खिलाफ जागरण का आह्वान

सामान्यत: पूँजीवाद की विशेष अवस्था का नाम साम्राज्यवाद है । वह पूँजीवाद की उच्चतम तथा अंतिम स्थिति है और वह अतिराष्ट्रवाद की तार्किक परिणति है । आज साम्राज्यवाद का तात्पर्य है एक राज्य के पूँजीपतियों द्वारा अन्य क्षेत्र या देश की जनता का आर्थिक शोषण ।[1]

---

1. श्रीप्रकाश कश्यप, भारत का साम्राज्यवादी शोषण, उत्तरार्द्ध, जनवरी-अप्रैल 1987, पृ. 61.

वस्तुतः पूँजीवाद इजेदारी में परिवर्तित होकर साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेता है । "यह निर्बल प्रजातियों के आर्थिक शोषण, राजनीतिक प्रभुत्व और विशुद्ध भौतिकवाद का पर्यायवाची है । इसका लंबा इतिहास मानवता के पददलन का इतिहास है । यह विश्वशांति स्थापन में जबरदस्त अवरोध रहा है ।"[1] साम्राज्यवाद प्रत्येक देश के संपूर्ण अर्थतंत्र को अपने शिकंजे में कस लेता है और उसके सामाजिक संतुलन एवं सांस्कृतिक पहचान को आपत्ति पहुँचाता है ।

भारत में साम्राज्यवाद का कार्यारंभ अंग्रेज़ी शासन की वेला में हुआ है । भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का प्रारंभिक दृश्य, वाणिज्यिक पूँजी के द्वारा भारत की अर्थ-व्यवस्था की लूट के रूप में दिखाई देता है । देश के पूँजीवादी वर्ग के चारित्रिक परिवर्तन के समानांतर साम्राज्यवादियों के चरित्र में भी परिवर्तन आये हैं । तो भी भारत वर्ष के लिए साम्राज्यवाद का अर्थ रहा है - लगातार लूट । उसकी टेढी जडें मुनाफे तथा और ज़्यादा मुनाफे के भीतर गहरे धंसी हैं - कुछ इजारेदारों के लाभ की खातिर ।[2] नतीजतन देश में गरीबी, भूखमरी तथा पिछडेपन की स्थिति बनी रही और अर्थव्यवस्था विकृत व निर्बल हुई । यह बेहद दुख की बात है कि आज़ादी के अठतालीस वर्ष बाद भी भारत इस साम्राज्यवादी ताकतों से मुक्ति न प्राप्त कर सकी है । इसपर हिन्दी की जनधर्मी लघुपत्रिकाएँ विशेषकर "उत्तरार्द्ध",

---

1. वेदव्रत शर्मा, आधुनिक राजनीति की चिंत्य धाराएँ, 1963, पृ. 316.
2. डी. डी. कोसम्बी, साम्राज्यवाद और शांति, अनु. हरेकृष्ण झा, साम्य, नवंबर 1994, पृ. 57.

"उत्तरगाथा", "कलम", "वाम", "समकालीन सृजन", "सामयिक वार्ता", "साम्य" आदि काफी चिंतित हैं । "उत्तरार्द्ध" के साम्राज्यवाद विरोधी अंक का आयोजन इसी परिप्रेक्ष्य में हुआ है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने साम्राज्यवाद को मौजूदा युग की सबसे जटिल विश्व-समस्या के रूप में उभारा है । अपने अस्तित्व और वर्चस्व को बचाने के लिए साम्राज्यवाद के सामने अनेक तरीके हैं । उनमें से प्रमुख है बहुराष्ट्रीय निगम जो अपेक्षाकृत नया है । बहुराष्ट्रीय निगम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने आर्थिक उत्साहों को संगठित करने के **साम्राज्यवादी प्रयासों** का परिणाम है । बहुराष्ट्रीय निगमों के वैश्विक विस्तार का बुनियादी साधन है प्रत्यक्ष पूँजीनिवेश । भारत सरीखी तीसरी दुनिया के देशों में प्रत्यक्ष पूँजी लगाने के मुख्य कारण हैं - सस्ती श्रमशक्ति और कच्चे माल की व्यापक उपस्थिति । विकासशील देशों में प्रदूषण व पर्यावरण के नियंत्रण संबंधी पर्याप्त नियमों की जो कमी है वह भी साम्राज्यवादियों के लिए असीम लाभ अर्जित करने के अनुकूल वातावरण तैयार करती है । साम्राज्यवादियों के शोषण की इस दिशा को "उत्तरार्द्ध" ने वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है । उसके अनुसार विश्व के औद्योगिक उत्पादन का मात्र नौ प्रतिशत ही विकासशील देशों में होता है । किन्तु विश्व की कुल औद्योगिक श्रम शक्ति का 62.2 प्रतिशत हिस्सा इन्हीं देशों में पाया जाता हैं । इसके अतिरिक्त बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रत्यक्ष पूँजीनिवेश का 18 प्रतिशत हिस्सा ही विकासशील देशों में लगता है जबकि विकसित पूँजीवादी देशों में यह हिस्सा 80 प्रतिशत है ।[1]

---

1. विपुल, भारत में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप, उत्तरार्द्ध, जनवरी-अप्रैल 1987, पृ. 35.

यों ही प्रत्येक वर्ष भारत जैसे तीसरी दुनिया के देश के उत्पादन का 71 प्रतिशत साम्राज्यवादियों के हाथों में चला जाता है और इन देशों में केवल 29 प्रतिशत का ही पुनर्निवेश किया जाता है । हिन्दी की लघुपत्रिकाओं की ओर से साम्राज्यवादियों की इस शोषण नीति की खुली आलोचना हुई है । "सामयिक वार्ता" के नयी गुलामी की चुनौतियों पर केन्द्रित अंक का संयोजन इस दृष्टि से हुआ है । उसमें साम्राज्यवादी ताकतों के शोषण के समकालीन संदर्भ की तरफ इस प्रकार प्रकाश डाला है -"आज दुनिया में अनाज की जितनी किस्में हैं उनमें एक तिहाई पर 10 कम्पनियों का नियंत्रण है । अन्तर्राष्ट्रीय बीज व्यापार में बड़ी कंपनियों का हिस्सा 1988 में 21 प्रतिशत तक पहुँच चुका था । इस वर्ष में दुनिया में कीटनाशकों का तीन-चौथाई कारोबार दस महाकंपनियों ने किया । इसी प्रकार 1987 में दवाइयों के विश्व कारोबार का 28.43 प्रतिशत अमीर देशों की दस कंपनियों ने किया ।"[1] यह अतल में बहुराष्ट्रवाद की बढती ताकत की सूचना है और साम्राज्यवादियों की बढती एकाधिकार प्रवृत्ति का निदर्शन भी ।

साम्राज्यवादी हमेशा यही चाहता है कि भारत सहित समूचे विकासशील देशों पर अपनी सत्ता थोपी जाये । इस विशेष उद्देश्य की सफलता हेतु वह प्रत्येक देश के सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश को प्रदूषित करता है और राष्ट्रीय स्थिरता एवं एकता को नष्ट करता है । उसके लिए आतंकवाद एक कामयाब हथियार है । वह आतंकवादी गतिविधियों और

---

1. सुनील, डंकेल मुक्ति या बहुराष्ट्रीय गुलामी का कुचक्र, सामयिक वार्ता, अगस्त-सितंबर 1993, पृ. 25.

अलगाववादी तत्वों को प्रचार व प्रोत्साहन देता है । आतंकवाद का पोषण करने के लिए साम्राज्यवाद कभी तो आतंकवाद की गलत व्याख्या प्रस्तुत करता है । उसको राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम का या आर्थिक उद्धारण के न्यायसंगत संघर्ष का स्वरूप देता है । इसके फलस्वरूप एक ओर छद्म मानवीयता के नाम पर आतंकवाद का खुला समर्थन होता है और दूसरी ओर राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन की महान परंपरा पर कालिख लगाया जाता है । साम्राज्यवाद के इस घृणित तंत्र से भारत के वैज्ञानिक विकास में बाधा उपस्थित हो रही हैं, उसके शांति मूल्य खो रहे हैं और तानाशाही, नस्लवाद, प्रतिक्रियावाद आदि को नवोन्मेष मिल रहा है । "आज की कविताएँ"की ओर से प्रकाशित काव्य-संकलन "आतंक बीज,""समकालीन सृजन" के हिंसा की चुनौती पर केन्द्रित अंक आदि इस समस्या का सही सामना करने के प्रतिबद्ध आयोजन हैं ।

भारत की शिक्षा-व्यवस्था में बहुराष्ट्रीय निगम के ज़बरदस्ती प्रवेश के कई दृष्टांत मिलते हैं । वस्तुत: बहुराष्ट्रीय निगम की बुनियादी लक्ष्य भारत में शिक्षा के माध्यम से सस्ती श्रमशक्ति का उत्पादन है । विकास-शील देशों में शिक्षा के लिए आकर्षक छात्रवृत्ति देना, अनुदान के द्वारा किसी विशेष के अध्ययन का खर्च उठाना, कभी पूरे शिक्षा केन्द्र को प्रायोजित करना, किसी खास विषय के प्रशिक्षण के लिए योग्य अध्यापक को उपलब्ध करना आदि लोभी साम्राज्यवादियों की बहुविध जादू है जिनमें प्राय: भारत सरीखे तीसरी दुनिया के देश के प्रतिभावान् छात्र फँस जाते हैं । कभी ये सारे कार्यक्रम ऐसे संस्थानों के सहारे संचालित होते हैं जो पूर्णतया बहुराष्ट्रीय निगमों के आश्रित हैं । हिन्दी की लघुपत्रिकाओं की तरफ से शिक्षा-व्यवस्था

में बहुराष्ट्रीय निगम की घुसपैठ की आलोचना हुई है । क्योंकि वह प्रतिभा-पलायन को त्वरित करती है । इस पलायन से गरीब देश और हर क्षेत्र में पिछड़े रहकर हर हाल में निर्भर और कमज़ोर बने रहने के लिए मज़बूर होते हैं ।[1] फलत: अनुसंधान एवं आविष्कार की धारा क्षीण पड़ती है और देश का विकास स्थगित हो जाता है ।

एक देश की विशेष पहचान उसकी सांस्कृति अस्मिता है । जब कोई साम्राज्यवादी किसी देश पर अपने प्रभुत्व या सर्वसत्ता को आरोपित करना चाहता है तो पहली बार प्रस्तुत देश की संस्कृति में हस्तक्षेप करता है । फिलहाल भारत के सांस्कृति क्षेत्र में साम्राज्यवादियों के हस्तक्षेप के अनेक दृश्य प्राप्त हैं । वे भारत में अनेक स्वैच्छिक संगठनों एवं एक्शन ग्रुपों का आयोजन करते हैं जो सदा राजनीति की असमर्थता की बात दुहराती हैं, गैर राजनीतिक तत्वों का प्रचार करती हैं और क्रांति, स्वच्छन्दता, स्वाधीनता आदि के नारे लगाती हैं । साम्राज्यवादी अपनी अकादमिक संस्थाओं के ज़रिए इन संगठनों को एक वैचारिक आधार प्रदान करते हैं और आर्थिक उदारताओं की सहायता से उन्हें अपनी विचारधाराओं के प्रचार के साधन बना देते हैं । इस प्रकार उन्हें देश के समाज और संस्कृति के अहम हिस्सों में सीधे घुसपैठ करने का मौका मिल जाता है । समकालीन लघुपत्रिकाओं ने साम्राज्यवाद की इस गुप्त नीति का उद्घाटन किया है और कहा है "स्वैच्छिक संगठनों और एक्शन ग्रुपों की गतिविधियों का सबसे खतरनाक पहलु है - उनके द्वारा किये जानेवाले

---

1. मुकुल, शिक्षा और बहुराष्ट्रीय निगम, उत्तरार्द्ध, अंक 27-28, पृ. 40.

अध्ययनों और सर्वेक्षण का जिनके प्रतिनिवेदन बाद में साम्राज्यवादी देशों को सप्लाई कर दिये जाते हैं तथा जिनसे देश में पृथकतावादी आंदोलनों के लिए ज़मीन की तलाश की जाती है ।"[1] इसके द्वारा जनवादी तथा जनतांत्रिक आस्थाओं व मूल्यों को हानि पहुँचने की संभव्यता है ।

साम्राज्यवाद का सबसे खतरनाक हमला सांस्कृतिक स्तर पर होता है जो सामान्यत: प्रत्यक्ष नहीं है । किन्तु उसका असर अवश्य अत्यंत गहरा और अनेक आयामी हैं । वामपंथी लघुपत्रिकाओं के अनुसार भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में साम्राज्यवाद का पदार्पण "कांग्रेस फॉर कलचरल फ्रीडम" के संस्थापन के साथ हुआ है ।[1] उसकी ओर से भारत की अनेक सांस्कृतिक संस्थाओं को वित्तीय अनुदान प्राप्त हुए हैं । भारत में "कांग्रेस फॉर कलचरल फ्रीडम" की करीब तेरह सहयोगी इकाइयाँ कार्यशील रही हैं । "फ्रीडम" ने जनवाद और समाजवाद के खिलाफ एक विशेष साहित्यिक व कला दृष्टि को रूपायित किया है जिनमें पूँजीवादी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को प्रमुखता दी है । वस्तुत: उसका नियंत्रण अमरीका की गुप्तचर एजेंसी ही कर रही थी । जब "फ्रीडम" की असलियत प्रकाश में आयी तब अज्ञेय जैसे मनीषी रचनाकार उससे अलग हुए ।

आज साम्राज्यवाद भारत की आज़ादी के सामने एक

---

1. विपुल, भारत में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप, उत्तरार्द्ध, अंक 27-28, पृ. 38.
2. जवरीमल्ल पारख, सांस्कृतिक क्षेत्र में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप, उत्तरार्द्ध, जनवरी 1987, पृ. 45.

भयानक चुनौती-सा उपस्थित है । भारत की संस्कृति, इतिहास, परंपरा एवं सृजनशीलता पर उसका बहुविध आघात हो रहा है । साम्राज्यवाद के विरुद्ध पाठकीय चेतना को उद्दीप्त करने के लिए समकालीन लघुपत्रिकाओं के संपादकीय, संवाद, आलेख आदि सहायक हुए हैं । उत्तरार्द्ध के साम्राज्यवाद विरोधी अंक का संपादकीय लेख इसका उदाहरण है जिसमें लिखा है - "संपूर्ण मानवता के अस्तित्व और शताब्दियों के निर्माण द्वारा अर्जित सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करके उसे परास्त करना हमारे अपने देश, उसकी एकता और जनतांत्रिक व्यवस्था की रक्षा के लिए अब बेहद ज़रूरी है ।"[1] यह समकालीन लघुपत्रिकाओं की सामाजिक प्रतिबद्धता और सांस्कृतिक सरोकार को प्रतिबिंबित करता है ।

नव-उपनिवेशवाद के खिलाफ लघुपत्रिकाओं की जुझारू मुद्रा

समकालीन तीसरी दुनिया की सबसे भयावह चुनौती है नव-उपनिवेशवाद । यह साम्राज्यवाद का परिमार्जित संस्करण है । भारत में आजादी के पहले उपनिवेशवाद का जो रूप था वह प्रत्यक्ष था और स्वातंत्र्योत्तर युग में वह परोक्ष हो गया है । इसे प्रायः नव-उपनिवेशवाद कहते हैं । नव-उपनिवेशवाद को साम्राज्यवादी एक सर्जनात्मक प्रतिक्रिया बताता है । बाज़ार, अन्य आर्थिक कार्य-विधान, तकनालजी, सैनिक व्यवसाय, संचार माध्यम, विचारधारा, व्यावसायिक जासूसी आदि नव-उपनिवेशवाद के धारदार शास्त्र हैं । आज इन शस्त्रों की नोक के सामने भारत हताश हो रहा है । इसलिए

---

1. संपादकीय, उत्तरार्द्ध, जनवरी-अप्रैल 1987, पृ. 4.

हिन्दी की लघुपत्रिकाएँ विशेषकर आठवें तथा नवें दशक की लघुपत्रिकाएँ नव-उपनिवेशवाद की तरफ लेखक और पाठक का ध्यान आकृष्ट कर रही हैं । संपादकीय लेखों एवं विचारोद्दीपक आलेखों के अतिरिक्त कविता, कहानी, नुक्कड नाटक जैसी सृजनात्मक विधाओं के ज़रिए भी वे नव-उपनिवेशवाद की प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करती हैं ।

नव-उपनिवेशवाद के घृणित अभियान के विरुद्ध प्रगतिशील तथा जनधर्मी लेखक निरंतर क्रियाशील रहे हैं । उन्हें इसकी जानकारी है कि "आज एक ओर देश में ही पले-बढे पूँजीपति तथा नव धनाढ्य वर्ग की अपनी कुत्सित लिप्साएँ हैं, दूसरी ओर भारत महादेश की ज़िन्दगी की जटिलताओं से गुज़रकर प्रखर होती जन-चेतना पर साम्राज्यवाद का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष आक्रमण है । साहित्य तथा कलाओं को निर्वेदक शून्य में भटकाकर उसकी धड़कन छीन लेना इस आक्रमण का अविभाज्य अंग है ।"[1] भारत के संदर्भ में इस आक्रमण की रोकथाम संस्कृति के अस्तित्व का अनिवार्य शर्त है, नहीं तो संस्कृति का अपसंस्कृति में रूपांतरण होगा । "वह {अपसंस्कृति} वास्तव में पूँजीवादी संस्कृति है । वह हमारी संस्कृति का वह पक्ष है जो पूँजीवादी समाज और उसकी मानसिकता से प्रभावित है ।"[2] इस हालत में पूँजीवादी तत्वों का प्रतिशोध करते हुए हमारी सांस्कृतिक विरासत के कालजयी मूल्यों को पल्लवित करना समकालीन रचनाधर्मिता का कर्तव्य है ।

---

1. आदमी, अंक-7, पृ. 5.
2. खगेन्द्र ठाकुर, नव उपनिवेशवाद, लोकशासन, 3 मई 1995, पृ. 8.

नव-उपनिवेशवाद की अंतरंग अपेक्षा है कि हमारी सांस्कृतिक अस्मिता का रंगमहल शीघ्र गिरा दिया जाय । उदारीकरण और भूमण्डलीकरण ऐसी दो चालें हैं जो इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए मदद देती हैं ।[1] हमारे प्रेषण के समूचे, स्थूल एवं सूक्ष्म साधनों पर नव-उपनिवेशवाद अपना प्रभुत्व की स्थापना करता है और भाषाओं के ऊपर अंग्रेज़ी सभ्यता को थोप देता है । वह विजातीय मूल्यों और अभारतीय जीवन-दृष्टियों का प्रचार करते हुए हमारी अन्तर्स्थली में अपनी जातीयता, राष्ट्रीयता तथा संस्कृति के प्रति घृणा का भाव पैदा करता है, रंगीन विचारधाराओं की चकाचौंध में अराजकतावादी मानसिकता उत्पन्न करता है और छद्म स्वतंत्रता के नाम पर रचनाकारों को समाज की लीक से हटाकर व्यक्ति की सृजनशीलता को संकोच में डालता है । फलत: रचनाकार यथार्थ से दूर हो जाते हैं । अपने जीवन व सामाजिक परिवेश से अलग हुए रचनाकार वास्तव में संस्कृति की उन्नति के लिए सहयोग देने में असफल निकलते हैं । दरअसल नव-उपनिवेशवादी शक्तियाँ यही चाहती हैं ।[2] उत्तर आधुनिकता की समकालीन लघुपत्रिकाएँ साहित्य का नव-उपनिवेशवाद मानती हैं और उसकी जो अवधारणा है वह नव-उपनिवेशवादियों की दी हुई है । उसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं - नवरत्नवाद, नवकलावाद और नवरूपवाद । असल में उत्तर आधुनिकता का सैद्धांतिक चमत्कार और रूपवाद का इन्द्रजाल नव-उपनिवेशवाद का पोषण कर रहे हैं । समकालीन लघुपत्रिकाएँ उत्तर-आधुनिकता के इस यथार्थ को समझती हैं ।

---

1. संपादकीय, सामयिक वार्ता, मार्च-अप्रैल, 1987, पृ. 4.
2. जवरीमल्ल पारख, आम आदमी की बेबसी और प्रतिशोध का युटोपिया, उद्भावना, अंक-28, पृ. 55.

नव-उपनिवेशवाद ने समकालीन रचनात्मकता को गैर मानवीय, गैर संप्रेषणीय, गैर संवेदनशील और निष्प्राण कर देने की योजना बनायी है । ऐसी रचनाएँ पूँजीवादी संस्कृति के व्यापन के लिए अनुकूल रंगभूमि तैयार कर देती हैं । इस तरह हिन्दी की कुछ व्यावसायिक पत्रिकाएँ नव-उपनिवेशवादी विचारों से प्रेरित होकर ऐसी रचनाएँ छप रही हैं जिनसे साधारण अवाम की संघर्षशील चेतना क्षीण हो जाती है और जनता केवल उपभोक्ता बनकर रह जाती है । यों "भारत सहित तीसरी दुनिया के देशों के लेखकों ने बड़े पैमाने पर जो महत्वपूर्ण प्रतिरोध साहित्य की परंपरा बनायी है और परंपरागत संस्कृति को जन संस्कृति के रूप में विकसित किया है, उसे नव-उपनिवेशवाद से प्रभावित कुछ लेखक एवं विचारक छिन्न भिन्न करना चाहते हैं । इस तरह की साजिश से सावधान रहना हमारा प्राथमिक लेखकीय सामाजिक सांस्कृतिक दायित्व है ।"[1] इस दायित्व के निर्वहण में आज की लघुपत्रिकाएँ कटिबद्ध हैं ।

नव-उपनिवेशवाद की देशकाल और भाषा संबंधी कुछ निजी अवधारणाएँ हैं । ये धारणाएँ कभी कभी सर्वलौकिकता और सर्वकालीनता के छद्म नाटक रचती हैं । लेकिन उसका जो असली चेहरा है वह अत्यंत संकुचित है । सत्ता का केन्द्रीकरण और विश्व बाज़ार पर अपना अधिकार जमाना नव-उपनिवेशवाद के उद्देश्य हैं ।[2] विदेशी सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों के द्वारा विदेशों में, बड़े पैमाने पर पैसा खर्च करते हुए भारतोत्सव आयोजित करने के मूल में भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों को प्रचलित करने के या उनसे आत्म मुग्ध

---

1. खगेन्द्र ठाकुर, नव-उपनिवेशवाद, लोकशासन, 3 मई 1995, पृ. 8.
2. संपादकीय, उत्तरगाथा, अप्रैल-जून 1986, पृ. 3.

होने के या अपनी संस्कृतियों को विकसित करने के कोई लक्ष्य नहीं हैं बल्कि हमारे सांस्कृतिक नैरंतर्य में खुल्लम-खुल्लम दखल देने की कामना है । इनके अतिरिक्त नव-उपनिवेशवादी भारतीयता एवं भारतीय संस्कृति को एक कोरी बाज़ारू चीज़ बना देता है जिससे संस्कृति के मानवीय मूल्य और प्रगतिशील तत्व कुंठित व शिथिल होते हैं । कर्णसिंह चौहान के आलेख "समाज को पंगु बनाने का दस्तावेज़"[1] और स्वयं प्रकाश के "विश्व-घटनाक्रम और साहित्यिक चुनौतियाँ"[2] में इन संकटों पर सोच की गयी है ।

नव-उपनिवेशवाद ने भारतीय समाज और संस्कृति के ऊपर अपनी मज़बूत जाल बिछा दी है । इससे विडंबना एवं अव्यवस्था की जो स्थिति समाज में उत्पन्न हुई है उसका विश्लेषण समकालीन लघुपत्रिकाओं में उपलब्ध है । उदाहरणार्थ "संवेद" के संपादकीय का उद्धरण कर सकता है जिसमें लिखा हैं - "शताब्दियों के सबसे बड़े संकट के दौर से गुज़र रहे इस देश का यह कठिन समय है जहाँ आदमी, औरत, बेटी, रोटी, पेड़-पहाड़, हवा, पानी कुछ भी सुरक्षित नहीं है, बल्कि पूरी सभ्यता, पूरी संस्कृति आज एक अन्तर्राष्ट्रीय मुठभेड़ में पराजित हो जाने के लिए विवश है ।[3] समकालीन लघुपत्रिकाएँ इसकी चेतावनी बहुत पहले दे चुकी हैं कि विदेशी पत्र-पत्रिकाओं का भारत में घुसपैठ इस स्थिति को और भी उलझनपूर्ण बना देने की, लोकतंत्र के हितों को हानि पहुँचाने की और संस्कृति को व्यापक-स्तर पर प्रदूषित करने की संभाव्यता है ।

---

1. पुरुष, अक्तूबर 1992, पृ. 92.
2. वही, पृ. 75.
3. संवेद्य, संवेद, जुलाई 1994, पृ. 2.

कुछ प्रगतिशील लघुपत्रिकाओं ने समकालीन डंकल प्रस्ताव को नव-उपनिवेशवाद के परिप्रेक्ष्य में उभारा है । सामयिक वार्ता में "डंकल" को नयी गुलामी की चुनौती के रूप में चित्रित हुआ है । उसने डंकल प्रस्ताव के खिलाफ बडी मात्रा में साहित्यकारों, पत्रकारों, अर्थ-शास्त्रियों एवं बुद्धिजीवियों को संगठित किया है और उनके विचारों का एकत्रित किया है । समग्रता में उसने डंकल प्रस्ताव की बहुआयामी आपत्ति की तरफ यों संकेत दिया है -"डंकल प्रस्ताव बहुत खुले ढंग से दुनिया के अमीर देशों की विशाल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का दुनिया के किसानों, मज़दूरों और गरीबों पर एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने का प्रस्ताव है । इस अर्थ में वह एक नये उपनिवेशवाद की प्रस्तावना है ।"[1] देश की स्वाधीनता का ह्रास, अर्थ-व्यवस्था की टूट, समाज व संस्कृति का अवमूल्यन मानवीय अस्मिता का विनष्ट आदि को उसमें डंकल के कुछ परिणाम बताये गये हैं । संक्षेप में कह सकते हैं कि हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाएँ एवं रचनाशीलता आहिस्ता आहिस्ता नव-उपनिवेशवाद के खतरे को पहचान कर चुकी हैं । वे अब उसके भयावह यथार्थों से टकरा रही हैं । नव-उपनिवेशवाद ने समाज, संस्कृति और विचार पद्धति को कितना गुरु गंभीर खतरा पहुँचाया है उनपर समकालीन प्रतिबद्ध रचनाकारों ने प्रकाश डाला है ।

जातिवाद के विरुद्ध संघर्षशील सांस्कृतिक बोध

वर्तमान दौर में जातिवाद एक भयंकर महामारी के समान भारत की धरती पर फैल रहा है । यह अवश्य समकालीन भारत का अभिशाप है । जातिवाद के कारण समाज की विकास-प्रक्रिया पंगु एवं शिथिल हो जाती है,

---

1. सुनीला, डंकल मुक्तिदूत या बहुराष्ट्रीय गुलामी का चक्र, सामयिक वार्ता, अगस्त-सितंबर 1993, पृ. 31.

देश की एकता व अखंडता जर्जरित होती है, रूढिवाद, पुनरुत्थानवाद तथा सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता है और देश के महान सांस्कृतिक एवं जनतांत्रिक मूल्य विघटित होते हैं । समकालीन लघुपत्रिकाओं ने इस विशाल परिवेश पर जातिवाद की समस्या का विचार-विमर्श किया है । उन्होंने कई चिन्तोद्दीपक आलेखों के माध्यम से पाठक को जातिवाद के विरोध में संघर्षरत होने की अनिवार्यता की समझ दी है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने जातिवाद के संकट को उचित प्रधानता दी है । "समकालीन सृजन" का जातिवाद और रंगभेद विरोधी विशेषांक जातिवाद की विभीषिका को प्रभिन्न कोणों से आंकने की समग्रतापूर्ण प्रयत्न है । वेदव्यास से लेकर कुमरप्पा तक के जाति विषयक विचारों का संकलन करते हुए उसने इस आस्था को अत्यंत दृढतापूर्वक व्यक्त किया है कि "मानवता को अब अधिक दिनों तक रंगों और जाति में विभाजित करके नहीं रखा जा सकता ।"[1] उसमें भारत की पुरानी जाति-व्यवस्था को लेकर उसके समसामयिक आयामों तक की चर्चा हुई है और उसमें जातिवाद के साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रभावों की टिप्पणी भी प्राप्त है । जातिवाद पर बहस करने के लिए "समकालीन सृजन" ने सृजनात्मक लेखकों के साथ समाजशास्त्रियों, संस्कृतिक कर्मियों एवं राजनीतिज्ञों को एकसाथ उपस्थित कर दी है जो उसकी सामाजिक दृष्टि के विस्तार का सबूत है ।

---

1. संपादकीय, समकालीन सृजन, जुलाई-दिसंबर 1989, पृ. 8.

दुनिया के अन्य इलाकों की तुलना में भारतवर्ष की विशेषता यह है कि वह एक अद्भुत देश है जहाँ विभिन्न जातियों की एक समृद्ध परंपरा गतिशील है । भारत की जनता और संस्कृति मूलतः अनेक जातियों के समवेत से निर्मित हुई है ।[1] भारतीय समाज और संस्कृति के उत्कर्ष में इन जातियों के योगदान ऐतिहासिक महत्व रखते हैं । लेकिन मौजूदा समय में हम देखते हैं कि जातिवाद और जातिभेद की कलह एक विकराल संकट के रूप में भारतीय संस्कृति को विकृत कर रही है । राष्ट्रीय पुनर्निर्माण, आधुनिकीकरण और उद्योग, शिक्षा एवं ज्ञान संबंधी रंगीन अरमानों के सम्मुख यह मूर्खतापूर्ण जाति-संघर्ष या जातिवाद गंभीर चुनौती बन खडा है - "20 वीं शती को ढलान पर उसकी महान उपलब्धियों का इस तरह खोते जाना एक भयावह विपर्यय की निशानी है । इतनी वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक प्रगति के युग में भी जातिवादी आधार पर भिन्नता और हिंसा पनपती हैं तो यह एक तरह सत्ता के निरंकुश और भ्रष्ट चरित्र को पर्दाफाश करती है, दूसरी तरफ इसका भी संकेत देती है कि वर्तमान संगठित पूँजीवादी व्यवस्था मनुष्यों से उनका विवेक छीनकर शोषण के नंगे रास्ते पर किस तरह उन्हें पृथक्-पृथक् जडविहीन कर रही हैं ।"[2] लघुपत्रिकाएँ जातिवाद की मूल प्रेरणा को इस विचार बिन्दु में पहचानती है ।

भारत में जाति-व्यवस्था का एक पुराना नैरंतर्य है । इतिहास में जाति-व्यवस्था या वर्ण-व्यवस्था की परिकल्पना पहली बार

---

1. कर्मेन्दु शिशिर, हिन्दी जातीयता और गद्य-परंपरा, अभिप्राय, दिसंबर 1987, पृ. 15.
2. शंभुनाथ, जाति का सवाल और साहित्य, पहल, दिसंबर-जनवरी 1988, पृ. 232.

वैदिक युग में हुई है । आरंभिक दौर में उसकी ज़रूरत उत्पादन की नई प्रणाली के कारण ही पैदा हुई थी । क्रमशः उसने भारतीय समाज की एक विशेष व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठा पा ली थी । देश की आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों में इसका व्यापक सरायत छाया हुआ था । सामंतवादी समाज-व्यवस्था में उच्च जाति के लोगों द्वारा अपनी सामाजिक यथास्थिति को बनाये रखने की अभीप्सा से जाति-भेद पर अधिक बल दिया गया । साम्राज्यवादियों के शासन काल में अंग्रेज़ों ने भारत की जागरणशील राष्ट्रीय चेतना को निर्बल करने के कुटिल उद्देश्य से धर्म-भेद और जाति-भेद की समस्या को उठाया । उनके अनुकरण में स्वाधीन भारत के सत्ताधारी शासक वर्ग एवं सुविधाभोगी राजनीतिज्ञों के हाथ में जाति एक ऐसे हथियार के रूप में परिणत हुई है जिसका उपयोग सत्ता पर चिपक रहने के स्वार्थ से किया गया है । उनकी मौलिक देन यह है कि उन्होंने जातिभेद को जातिवाद के रूप परिवर्तित किया है । आज विज्ञान व प्रौद्योगिकी की प्रगति के बावजूद जातिवाद न बचा हुआ है अपितु सत्ता की राजनीति ने उसको अधिक बढ़ावा दिया है । "इसके लक्ष्य दो होते हैं - एक तो चुनाव जीतना और दूसरे सांप्रदायिक तनाव बनाये रखना ताकि जनान्दोलन मज़बूत न होने पाये ।"[2] अब स्थिति इतनी बुरी हुई है कि देश में बड़ी मात्रा में जातिवादी दल गढ़े जा रहे हैं जिनकी आधारभूत चेतना किसी विशेष जाति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक उद्धार की भावना नहीं बल्कि सत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त करना मात्र है । यही जातिवाद के विकास का समकालीन संदर्भ है ।

---

1. प्रो. रामशरण शर्मा, कथन, मई-जून 1982, पृ. 48.
2. वरवर राव, सामाजिक परिवर्तन और जातिवाद, समकालीन सृजन, जुलाई-दिसंबर 1989, पृ. 125.

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने जातिवाद को मानवीय रिश्तों को संकुचित करनेवाली एक बर्बरता के रूप में चित्रित किया है जो जनतांत्रिक मूल्यों के विस्तार में निरंतर बाधा उपस्थित करती है । यहाँ "आधुनिकीकरण जितना तीव्र हो रहा है, अन्य रूढ़ियों के साथ जातिवाद भी उतनी ही तेज़ी से बढ रहा है । इसका अर्थ है कि विकास समाज में अखंडता, विवेक-परकता और समानता का पोषण न कर विखण्डता, रूढ़िवाद और आर्थिक शोषण को ही उकसा रहा है ।"[1] इस दिशा में आम अवाम को जातिवाद की विभीषिका के प्रति जागरूक करना और समाज में जनतांत्रिक मूल्यों को पुनः दाखिल करना, लघुपत्रिकाएँ, प्रगतिशील कलमधारी का परम कर्तव्य मानती हैं । उनका संघर्ष असल सत्ता के खिलाफ है जिसे इस बात का वास्तविक पता है कि जनता जब संगठित हो जाती तब उसकी तानाशाही का समापन होता है । अतः सत्ता सदा ऐसी कूटनीतियाँ रचती है जिनसे जनता विभिन्न जातियों में विभक्त रहे । फिलहाल सत्ता की ओर से दलितों व आदिवासियों के प्रति जो छद्म सहानुभूति प्रकट की जा रही है उसे इन्हीं नीतियों के अन्तर्गत रख सकते हैं ।

जातिवाद की जड़ें सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं की गहराई में फैल पडी है । अतएव आज की लघुपत्रिकाएँ सभी स्तरों पर जातिवाद को तोडने या उसका उन्मूलन करने के उपाय सोच रही हैं । जातिवाद के असली स्वरूप की अन्वेषणा इस सिलसिले की कडी है । भारत के राष्ट्रीय

---

1. संपादकीय, समकालीन सृजन, जुलाई-दिसंबर 1989, पृ. 6.

आंदोलन के दौरान जातिवाद के विरोध में बहुत-से आंदोलन चलाये गये हैं । लेकिन आज़ादी के बाद एक ऐसे जनान्दोलन के अभाव में समाज में दुबारा जातिवाद की प्रवृत्तियाँ लहरें लेने लगी हैं । इसके चार प्रमुख कारण हैं - वर्ग-व्यवस्था, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था, राजनीतिक मूल्यों का विघटन और धार्मिक पुनरुत्थानवाद । समकालीन लघुपत्रिकाओं ने विशेषकर वामपंथी लघुपत्रिकाओं ने इन सबको ध्यान में रखकर ही जातिवाद-विरोधी संघर्ष की रणनीति का सूत्रपात किया है । यह लघुपत्रिकाओं की निजी विशेषता है ।

समकालीन अर्ध-सामंती तथा नौकरशाही पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में जातिवाद अत्यंत कलुषित हो रहा है । समाज के जातिवादी संस्कारों की इस उपस्थिति का एक बहुत बड़ा कारण सामाजिक तंत्रों में ईमानदारी का अभाव भी है । जातिवाद की स्थिति से समाज को मुक्त करना, विघटन की प्रवृत्ति पर रोक लगाना और मनुष्य के आपसी सहयोग व सद्भावना को जारी रखना एक सांस्कृतिक अनिवार्यता है । मोटे तौर पर इस दिशा में समकालीन लघुपत्रिकाएँ तीन महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं - जातिभेद तथा वर्ण-व्यवस्था की मिथकीय, पौराणिक एवं धार्मिक व्याख्या, जातिभेद का राजनीतिक शोषण, जनसंचार माध्यमों का दुरुपयोग, पाखंड और अंधविश्वास जैसे जातिवाद की ज्वाला को अधिक तीव्र करनेवाले संकुचित प्रयासों की खुली आलोचना, जातिवाद के विविध पहलुओं का उद्घाटन और एक ऐसी वर्ग हीन समाज-व्यवस्था की परिकल्पना और प्रचार जहाँ जाति के आधार पर मनुष्य का विभाजन नहीं होता ।

नारी मुक्ति-आंदोलन की सार्थक पहल

भारत में नारी वर्ग के शोषण का एक लम्बा और अविछिन्न नैरंतर्य है । पौराणिक वाङ्मयों में सती, सीता, सावित्री, शीलावती, रेणुका आदि आदर्शोन्मुखी नारी पात्रों की अनेक मर्मभेदी कहानियाँ बतायी गयी हैं जो पुरुष सत्तात्मक नीति की शिकार थीं । सामन्तीय समाज में स्त्रियों की स्थिति शूद्रों की स्थिति से बेहतर नहीं थी । हिन्दी के भक्त कवि तुलसीदास ने पशु, ढोल, गंवर, शूद्र और नारी को समान रूप से शोषण-उत्पीडन का शिकार बतलाया है जो तद्युगीन भारतीय समाज में व्याप्त वर्गीय अवधारणा को प्रमाणित करता है ।

भारत का वर्तमान इतिहास साक्षी है कि महिलाएँ शोषण और उत्पीडन की सिलसिले से अभी मुक्त न हुई हैं । उनके शोषण और उत्पीडन के कई स्तर हैं । उनमें सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर काफी प्रमुख हैं । क्योंकि हमारा तो एक पुरुष सत्तात्मक समाज है और सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में पुरुष दंभ का राज चल रहा है । स्वाधीन भारत में संवैधानिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष में कोई भेद-भाव नहीं है । किंतु व्यवहार के तौर पर सर्वत्र अन्तर नज़र आते हैं । सती प्रथा कानूनी तौर पर पिछले डेढ सौ साल से बंद है । बाल-विवाह के विरुद्ध कानून बन गया है । दहेज-प्रथा अवैध है । तलाक कानूनी स्तर पर असंभव है । इन सभी कानूनों के रहने के बावजूद नारी-वर्ग की बुरी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है । ये सारी बातें इतना

सबूत है कि महिला-उत्पीडन और महिला-मर्द की असमानता कभी जैविक या प्रकृतिक नहीं बल्कि पूर्णत: सामाजिक है ।

आज भारत सहित तीसरी दुनिया की नारी-उपेक्षिताओं की समस्याओं को हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाएँ उचित गौरव के साथ उठा रही हैं । लघुपत्रिकाओं के क्षेत्र में मणिकामोहिनी (वैदारिकी), रमणिका गुप्त (आम आदमी), नलिनी उपाध्याय (मधु माधवी), रेणुदिवान (नारी संवाद), शान्ति ओझा (जागो बहन), आशापूर्वे (नया हस्तक्षेप), अस्मिता सिंह (शब्द), उषा किरण (वसुन्धरा), अश्विनी (समय) जैसी महिला संपादकों की जो हाज़िरी है वह प्रस्तुत सांस्कृतिक कार्य को गतिशीलता दे रही है । इन संपादकों ने खासकर अपनी पत्रिकाओं में नारी समस्याओं पर अधिक ध्यान और ज़ोर दिया है । नतीजा यह निकला है कि वर्तमान परिवेश में नारी की समस्याएँ नारियों तक सीमित न रही हैं और इस विषय को लेकर अन्य लघुपत्रिकाओं की ओर से भी अनेक परिसंवाद आयोजित हुए हैं । इन परिसंवादों की विशेषता यह है कि ये कोरे अध्यापकीय या अकादमिक नहीं बने हैं । इन्होंने मानवता के पक्ष में खडे होकर मानतवावादी दृष्टिकोण से नारी-वर्ग की समस्याओं पर नज़र डाला है । स्त्री की समस्याओं को नये आयाम देने में "कथन", "आम आदमी", "संभवा", "निनाद", "आज की कविताएँ", सरीखी लघुपत्रिकाओं के महिला अंक भी सहायक निकले हैं । उन्होंने नारीवादी लेखन एवं नारीवादी चिंतन में नवीन उत्साह भरा है ।

मौजूदा नव-उपनिवेशवादी परिप्रेक्ष्य में नारी-वर्ग के शोषण और उत्पीडन ने गंभीर रूप धारण कर लिया है । भोगवाद तथा उपभोक्तावाद के विस्तार के साथ-साथ स्त्री समूह की सामाजिक स्थिति गिर रही है जब बीसवीं दुनिया के 70 फीसदी उद्योग-धन्धे वे ही चलाते हैं, कृषि में 70 फीसदी उन्हींके बहुविध सहयोग रहते हैं और दफ्तरों में कार्यरत लोगों में भी 33 फीसदी वे ही हैं ।[1] शिक्षा, स्वास्थ्य, भू-स्वामित्व, कमाई और कानूनी या राजनैतिक अधिकारों से वंचित नारी-वर्ग की करूण हालत का पटाक्षेप "संभवा" में इस प्रकार किया गया है -"नारी-शिशु की भ्रूण हत्या, महिला-उत्पीडन, बलात्कार, दहेज-हत्या, सडकों पर नंगी धुमाई जाती औरत, वेश्यावृत्ति के अड्डे, लडकियों की खरीद फरोख्त - ये समय की सुर्खियाँ हैं । औरत-देह का अश्लील और भौंडा प्रदर्शन हमारे पूँजीवादी समाज में उपभोक्ता वस्तुओं की बिक्री बढाने का सबसे कारगर नुस्खा है । फिल्मों में, टी.वी.में, पत्र-पत्रिकाओं में औरत को नंग करने की प्रवृत्ति बढी है ।"[2] यही भारत के महिला-मुक्ति आंदोलन की पहल का सामाजिक संदर्भ है ।

महिला-मुक्ति आंदोलन भारतीय समाज के इतिहास का एक विशिष्ट अध्याय है । अरन्तू, कार्लमार्क्स, माओ सेतुंग, एंगेल्स, लेनिन, गाँधीजी, लोहिया, क्लारा सेतकिन, तिमोथ्र द ब्रुआ, जूलियट मिच्चल और आड्रियन रिच से लेकर केट मिलेट, शुलामिन फयरस्टोप जैसी क्रांतिकारी

---

1. लोकशासन, 17 मई 1995, पृ. 38.
2. संपादकीय, संभवा, जुलाई-सितंबर 1994, पृ. 6.

नारीवादियों तक से वह प्रभावित है । हिन्दी में महिला-मुक्ति-आंदोलन के विचारों को प्रचरित करने के उद्देश्य से एकाध लघुपत्रिकाएँ प्रकाशित हुई हैं जिनमें मुख्य हैं, "नारी-संवाद" और "जागो-बहन" । इनका केन्द्रिय नारा है - नारी-मुक्ति । नारी-मुक्ति का मतलब है राजनैतिक सत्ता, वंशीय सत्ता, धार्मिक सत्ता तथा पुरूष सत्ता की जंजीरों से मुक्ति । वह "मानव और मानवता के अस्तित्व की प्रतिबद्धता है ।"[1] इन लघुपत्रिकाओं में अनेक विचारोत्तेजक लेख मुद्रित हुए हैं जिनके आधारभूत लक्ष्य हैं, महिला-उत्पीडन, गैर-बराबरी, बलात्कार, दहेज-हत्या, नारी-शिशु की भ्रूण-हत्या सरीखे निंदनीय असामाजिक आचरणों के खिलाफ संघर्षरत स्त्रियों की मोर्चा तैयार करना और यथार्थ का बोध देते हुए नारी-मुक्ति अभियान की प्रासंगिकता को रेखांकित करना ।

समकालीन लघुपत्रिकाएँ महिला- मुक्ति-आंदोलन को भारत के विशिष्ट ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भ में पहचानती हैं । उनके अनुसार "भारत का महिला-मुक्ति-आंदोलन उन महिलाओं की चेतना का परिणाम है जिन्होंने विभिन्न संघर्षों, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं स्वयं के जीवन संघर्ष के दौरान पाया कि वह खुद कितनी शोषित है ।"[2] वस्तुत: आज़ादी के आंदोलनों से लेकर वर्तमान समय के अनेकानेक आंदोलनों तक में भारत की महिलाओं ने उमडकर भागीदारी ली है । लेकिन उनका वस्तुवादी मूल्यांकन नहीं के बराबर हुआ है । आज़ादी के आंदोलनों में महिलाओं

---

1. संपादकीय, जागो बहन, वसंत ऋतु अंक, 1995, पृ. 3.
2. पूनम, कारवाँ बढता गया, नारी संवाद, मार्च 1995, पृ. 5.

की ऐतिहासिक भूमिका के रहने के बावजूद, आज़ादी के साढ़े चार दशकों के बाद भी भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्रियाव्यापारों में उनकी हिस्सेदारी को परिसीमित करने का षड्यंत्र रचा जा रहा है । इसका मूल कारण भारत की विकासशील पूँजीवादी व्यवस्था है । "पूँजीवादी व्यवस्था में अधिकांश महिलाओं को घरेलू बुद्धिहीन कामकाजों में व्यस्त रहना पड़ता है जिससे वह सामाजिक उत्पादन के प्रत्यक्ष कार्यकलापों में भाग लेने से वंचित रह जाती है ।"[1] समकालीन लघुपत्रिकाएँ समाज के इस शोषण-तंत्र की परंपरा को प्रकाश में लाती हैं । वे परस्पर आश्रित स्त्री-पुरुष को क्रमशः साधन-साध्य के रूप में परिभाषित करनेवाली लिंग भेद की सभ्यता की कटु आलोचना करती हैं ।

आजकल हमारी अर्थ-व्यवस्था एक ओर पूँजीवाद की ओर मुड़ रही है तो दूसरी ओर हमारी समाज व्यवस्था सामंती सभ्यता की तरफ करवट ले रही है । परिणामतः स्त्री की पराधीनता दो तरह की रही है । सामंत ढंग की पराधीनता और पूँजीवादी ढंग की पराधीनता ।[2] अतएव स्त्री को उसके बहुविध शोषण व उत्पीडन से मुक्ति दिलाने के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और सामंतवादी समाज-व्यवस्था से टकराना अनिवार्य हो गया है । हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाओं के प्रयास भी इसी दिशा में हैं । वे नारी-वर्ग की चुनौतियों को अकेले नहीं लेतीं बल्कि समाज एवं

---

1. उषा वैरागकर, पूँजीवादी एवं समाजवादी व्यवस्थाओं में स्त्री की सामाजिक आर्थिक स्थिति, निनाद, अंक-2, पृ. 28.
2. रामविलास शर्मा, भारतीय परिवार और समाज में नारी की स्थिति, कथन, जनवरी-फरवरी, 1983, पृ. 29.

संस्कृति की अन्य चुनौतियों के भीतर उनको भी सम्मिलित करती हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाएँ स्त्री की समस्याओं को समग्रता में उभारने की कोशिश की है । वे इन समस्याओं को केवल स्त्री-पुरुष की समस्याओं के रूप में पेश करना नहीं चाहतीं । वे असल में उनको एक सामाजिक समस्या के रूप में, वर्ग-संघर्ष की समस्या के रूप में पेश करने की हिमायती हैं । उनमें महिला-मुक्ति के सवाल से जोडने की इच्छा प्रकट हुई हैं ।[1] इस उद्देश्य से उनके द्वारा अनेक चर्चाएँ चलायी गयी हैं जिनमें नारीवाद की प्रासंगिकता, गैर-बराबरी की राजनीति, स्त्री-शिक्षा की अनिवार्यता, दहेज-प्रथा की भयंकरता, सौंदर्य प्रतियोगिता का बाज़ार-तंत्र जैसे विषयों का विस्तृत विश्लेषण हुआ है । "नारी संवाद" का "संवाद" स्तंभ इस दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है । उसके माध्यम से स्त्री-जीवन और शोषण के कई मार्मिक क्षण सामने आये हैं ।

मौजूदा लघुपत्रिकाओं ने भारतीय समाज में स्थित और प्रचलित नारी-उत्पीडन के अनेक करुण दृश्यों का उद्घाटन किया है और दुनिया की आधी आबादी के प्रति समाज ने जो नीति अपनायी है उसकी अवैज्ञानिक, अमानवीय तथा गैर-सांस्कृतिक पक्षों का पर्दा खींच लिया है । उनका यही वास्तविक विचार है कि "महिला-मुक्ति के लिए पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और पुरुष-प्रधान सामाजिक व्यवस्था से लडना होगा - तभी हम मानवतावादी

---

1. रामविलास शर्मा, भारतीय परिवार और समाज में नारी की स्थिति, कथन, जनवरी-फरवरी, 1983, पृ. 26.

समाज की परिकल्पना साकार कर सकते हैं ।"[1] इस लक्ष्य की सफलता हेतु समकालीन लघुपत्रिकाओं ने विचारशील और संघर्षशील महिलाओं के संगठन पर अधिक बल दिया है । इस संगठन की अवधारणा की खास विशेषता है कि वह कभी अराजक या अभिजातीय नहीं है वरन् उसमें जनान्दोलनों की महती परंपरा से विलय होने की स्वाभाविक चेतना निहित है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने स्त्री-समस्या की चर्चा को वैचारिक स्तर से सृजनात्मक स्तर तक व्याप्त किया है । फलस्वरूप हिन्दी में अनेक कविताएँ रची गयीं जिनकी केन्द्रीय संवेदना स्त्री-उपेक्षिता रही है । धूमिल से लेकर कविता सिंह तक के प्राय: सभी कवियों ने स्त्री की स्थितियों एवं समस्याओं पर विविध कोणों से दृष्टिपात करने का प्रयास किया है । उनकी उपलब्धियों के सर्वेक्षण के आधार पर कहा गया है -"समकालीन हिन्दी कविता में स्त्री के सौंदर्य, प्रेम, संगीत के साथ ही उसकी वेदना, शोषण, अस्मिता की चिंता सहित उसकी माँ, पत्नी, प्रेमिका, बहन, बेटी की अनंत भंगिमाओं को अभिव्यक्ति मिली है । उसके संघर्ष पक्ष को भी अनदेखा नहीं किया है । छायावाद की छुई मुई भोग्या नारी समकालीन कविता में अपने मानवीय चेहरे के साथ प्रस्तुत हुई है ।"[2] इस प्रकार समकालीन कविता के नारीवादी तेवर को स्थापित करने में समकालीन लघुपत्रिकाओं ने, अहम

---

1. रेणु दिवान, संपादकीय, नारी संवाद, मार्च-अप्रैल 1994, पृ. 3.
2. डॉ. ऊर्मि शर्मा, समकालीन काव्य और स्त्री, आम आदमी, जुलाई-दिसंबर, 1994, पृ. 253.

भूमिका निभाई है । "आज आदमी" का महिला कविता केन्द्रित अंक और "संभवा" का महिला कविता अंक इस तथ्य के प्रमाण हैं । इनके अतिरिक्त अन्य लघुपत्रिकाओं में भी **स्त्री संवेदना की मार्मिक काव्यात्मक अभिव्यक्तियाँ** प्रकाशित हुई हैं ।

वर्तमान काल में स्त्री के उत्पीडन और अवमान की कई दिशाएँ हैं । शोषण, दहेज-प्रथा, भ्रूण-हत्या, तलाक, बलात्कार - वैयक्तिक एवं सामूहिक, कामुक पत्र-पत्रिकाएँ, फिल्म, विज्ञापन, टेलिविज़न आदि उनमें से कुछ हैं । मौजूदा पूँजीवाद, धार्मिक पुनरुत्थानवाद और उपभोक्तावाद ऐसे तीन तत्व हैं जो आधुनिक स्त्री के अपनत्व के सम्मुख विकट संकट-से खडे हैं । समकालीन कविता इस बुरी हालत का सामना दो स्तरों पर करती है । एक ओर वह स्त्री के यथार्थ की तीव्र अभिव्यंजना करती है जिसमें स्त्री के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट होती है । दूसरी ओर वह स्त्री की शक्ति, ओज, जागरण, आक्रोश के तीखे चित्र खींचती है । यहाँ उदाहरण स्वरूप कुछ कविताओं की सूची दी जा रही है जिनके अन्तर्गत स्त्री-समस्या एवं संवेदना को प्रमुखता दी गई है ।

हज़ार आश्चर्यों का आश्चर्य कुमारेन्दु पारसनाथ सिंह, प्रारूप, प्रवेशांक, पृ. 21.
छतों पर लडकियाँ आलोक धन्वा, वर्तमान साहित्य, अप्रैल-मई 1992, पृ. 93.
औरत अशोक वाजपेयी, आदमी, अंक-7, पृ. 63.
किसी को नहीं मालूम हरीश पाठक, आकंठ, अंक-10, पृ. 16.
दो बहनें रमन मिश्र, कथन, जनवरी-फरवरी 1983, पृ. 11.

औरत संघर्ष करती है शुभा शर्मा, वही, पृ. 17.
क्या होगा वीरा, वर्तमान साहित्य, अप्रैल-मई 1992, पृ. 172.
एक असमाप्त कविता की पांडुलिपि कात्यायनी, संभवा, अक्तूबर-दिसंबर 1994, पृ. 19.

इनके अलावा "आम आदमी" और "संभवा" के महिला कविता केन्द्रित अंकों की ढेर सारी कविताएँ नयी अर्थव्यवस्था, उपनिवेशवाद, उपभोक्तावाद, अपसंस्कृति आदि की दबोच से निरंतर उत्पीड़ित स्त्री-जाति के संघर्ष की साक्ष्य हैं । खासकर समकालीन कवयित्रियों की रचनाओं में यह संघर्ष अपेक्षाकृत तीव्रतर है । तमाम संकटों के बावजूद उनका स्वर निराशावादी नहीं । उनमें बेहतर भविष्य की कल्पनाएँ अनस्यूत हैं और आज के कठिन समय की इंगिति को पकड़ पाने की प्रतिभा है । निष्कर्षतः समकालीन लघुपत्रिकाओं में प्रकाशित स्त्री-चेतना की कविताओं ने वर्तमान युग विशेष की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विडंबनाओं के परिवेश में स्त्री-समस्याओं को देखा-परखा है । अतएव वे उस व्यावसायिक व भोगवादी सभ्यता की घोर विरोधी हैं जिसका महानगर, नगर, गाँव, कस्बा एवं बस्ती एकसाथ शिकार है ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने स्त्री-संवेदना को कहानी के स्तर पर भी उठाया है । यहाँ "आम आदमी" के महिला कहानी केन्द्रित अंक का उल्लेख अनिवार्य है । उसमें स्त्री की समस्याओं के सृजनात्मक संप्रेषण

के लिए हिन्दी की मशहूर समकालीन कथा लेखिकाओं को संयोजित किया है । आम तौर पर हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाओं में प्रकाशित स्त्री-चेतना की कहानियाँ पूरे सामाजिक परिवेश के साथ स्त्री के जीवन के विभिन्न आयामों को चित्रित कर रही हैं । उदाहरणार्थ कुछेक कहानियों की सूचना दे रहे हैं ।

फिर हार गयी वह नमिता सिंह, आम आदमी, अप्रैल-जून 1994, पृ. 157.
बिसात देवयानी, वही, पृ. 1.
जिरवा और जिरवा माय रमणिका गुप्ता, वही, पृ. 62.
धारा के विरुद्ध प्रभा सक्सेना, कथन, जनवरी-फरवरी 1983, पृ. 13.
अहिल्या माया प्रसाद, नारी संवाद, मार्च 1995, पृ. 26.
एक कद्दावर औरत जवाहर सिंह, कथानक, मई-अगस्त 1992, पृ. 62.

इनके अतिरिक्त स्त्री चेतना व जीवन विषयक कहानियाँ और भी लिखी गयी हैं । ये ढेर सारी कहानियाँ स्त्री की ज़िन्दगी की विडंबनाओं एवं चुनौतियों की तरफ संकेत करती हैं । निष्कर्षत: इन कहानियों की मुख्यत: दो प्रवृत्तियाँ हैं - स्त्री के जीवन के सामान्य और विशिष्ट, दोनों क्षणों का उद्घाटन तथा उसके प्रतिबोध और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति ।

अभिव्यक्ति की स्वाधीनता की ईमानदार प्रहरी

स्वाधीनता एक बुनियादी मानवीय मूल्य है । अभिव्यक्ति मनुष्य की स्वाधीनता का संप्रेषण है । मानव की स्वाधीनता मानव मात्र की

होने के कारण अविभाज्य है ।[1] उसके अभाव में अभिव्यक्ति बिलकुल एक असंभव कार्य है । अतएव हर युग में रचनाकार और कलाकार आज़ादी प्राप्त करने के लिए संघर्षशील रहे हैं तथा उस सत्ता के खिलाफ मोर्चा चलायी है जिसने मनुष्य मात्र की स्वाधीनता पर रोक लगा दी है । इस मोर्चे की एक ऐतिहासिक परंपरा है जिसे समकालीन लघुपत्रिकाएँ संभाल रही हैं । वे आज़ादी को जीवन का सबसे मुख्य मूल्य मानती हैं, उसे लेखक की प्रथम, विशिष्ट व अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में देखती हैं और लेखक की स्वाधीनता का महत्वहीन होना उसकी जीवित मृत्यु समझती हैं । समकालीन लघुपत्रिकाओं की दृढ़ आस्था है कि किसी भी समाज व्यवस्था में रचनाकार के इस अनमनीय अधिकार को सुरक्षित रखना अपनी जिम्मेदारी है । महीपसिंह के संपादन में प्रकाशित "संवेदना" का विशेषांक- लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, इस दृष्टि से उल्लेखनीय है । उसमें जैनेन्द्र कुमार, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, प्रभाकर माचवे, सव्यसाची, देवेन्द्र इस्सर, रामदरश मिश्र, जगदीश चतुर्वेदी, हरदयाल, शैलेश मटियानी, हंसराज रहबर जैसे हिन्दी के सर-ताज रचनाकारों ने आज़ादी के मूल्य को अत्यधिक महत्व दिया है ।

स्वाधीनता सांस्कृतिक इतिहास का एक अहम अध्याय है । परन्तु इतिहास प्रवाह में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब निहित स्वार्थों और निहित शक्तियों द्वारा मनुष्य की अपने आपको पहचानने की क्रिया, अपने आप को अभिव्यक्त करने की इच्छा और अपने अस्तित्व को सार्थकता देने के

---

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (सं), अज्ञेय, 1978, अज्ञेय के साक्षात्कार से उद्धृत, पृ. 312-313.

प्रयासों पर चिह्न लगा दिये जाते हैं ।[1] इस त्रासद माहौल में अभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्रजातंत्र को पुनस्थापित करना प्रत्येक लघुपत्रिका का बुनियादी दायित्व होता है । क्योंकि स्वतंत्रता प्रजातंत्र का केन्द्रीय सरोकार है ।

अभिव्यक्ति की स्वाधीनता की समस्या महज लेखकों या कलाकर्मियों की समस्या नहीं है । वास्तव में आज़ादी मेहनतकश, श्रमजीवि जनता के लिए भी बेहद ज़रूरी है । क्योंकि इस आज़ादी के माध्यम से ही वे संगठन और संघर्ष के द्वारा अपनी जीविका एवं रहन-सहन के स्तर की रक्षा करने का प्रयास कर सकते हैं । अतः स्वतंत्रता का अपहरण करनेवाली मूल मनोवृत्ति फासिज़्म की है । इसी वजह से निसंदेह कह सकते हैं कि स्वाधीनता का एक मज़बूत राजनीतिक और आर्थिक पक्ष होता है । मगर बहुत-से लेखक ऐसे हैं जो अभिव्यक्ति की स्वाधीनता को देश की राजनीतिक-परिस्थितियों से हटाकर देखने की कोशिश करते हैं । यह बिलकुल पंगु, अवैज्ञानिक और एकआयामी नज़रिया है । इसके विरुद्ध समकालीन लघुपत्रिका ने आज़ादी के सामने प्रतिबन्ध लगानेवाली फासिस्ट रवैये को यों उद्घाटित किया है - "जबकि हकीकत यह है कि प्रजातंत्र पूँजीवादी अर्थ-संबंधों पर आधारित एक राजनैतिक ढाँचा है और जैसे आर्थिक संकट के विस्तार से जन आक्रोश पूँजीवादी अर्थ संबंधों को चुनौती देने लगता है, इनकी रक्षा के लिए राजसत्ता भी अपनी उदारता और प्रजातंत्र का नाटक छोड़कर अपने दमन यंत्र का वास्तविक रूप में प्रयोग करने लग जाती हैं ।"[2] लघुपत्रिकाएँ अभिव्यक्ति के सामने

---

1. महीप सिंह, संपादकीय, संचेतना, सितंबर-दिसंबर 1977, पृ.9.
2. सव्यसाची, किसी भी समाज व्यवस्था में रचनाकार की स्वतंत्रता महत्वहीन नहीं होती, वही, पृ.46.

प्रश्न चिह्न लगानेवाली इस फासिज़्ट सत्ता के खिलाफ मुहिम चलाने के लेखक और पाठक सहित समाज के सभी अंगों के कर्तव्य की स्मृति दिलाती हैं ।

जिस समाज में वर्ग-व्यवस्था कायम रहती है उस समाज में प्रत्येक लेखक और संस्कृतिककर्मी को अपने विचारों के प्रस्तुतीकरण की आज़ादी शोषक वर्ग के हित में उसके द्वारा संचालित एक सुनियोजित षड्यंत्र के तहत प्राप्त होती है । "जब तक शोषण-उत्पीडन पर आधारित वर्ग समाज जीवित है, जन विस्फोट के दमन के लिए निरंकुशता की भी ज़रूरत रहेगी और रचनाकार की अभिव्यक्ति के लिए खतरा भी बना रहेगा ।"[1] इस प्रकार वर्ग व्यवस्था में अभिव्यक्ति स्वतंत्रता सीमित होती है और जनसाधारण के साथ-साथ रचनाकार की स्वाधीनता पर भी नियंत्रण रहता है । समकालीन लघुपत्रिकाएँ स्वाधीनता के इस सामाजिक संदर्भ को पकडती हैं और पराधीनता की निन्दा के साथ पूँजीवाद, फासिज़्म जैसी व्यवस्थाओं की कठोर आलोचना भी करती हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं ने अभिव्यक्ति की स्वाधीनता को कभी जीवन से अलग होने का या समाज के प्रवाह से दूर हो जाने का अर्थ नहीं दिया है । उनके लिए "स्वतंत्र का मतलब अपने ऐतिहासिक, सामाजिक अन्तर्विरोधों को समझने, उन्हें दूर करने में हिस्सेदार होने एवं क्रांतिकारी

---

1. सव्यसाची, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल, यथार्थ, अक्तूबर 1977, पृ. 7.

परिवर्तन के लिए संगठित प्रयास करने से होता है (और) जनता के ऐसे चरित्र विकास से है, जिससे उसका जागरूक विवेक गतिशील और न्यायपूर्ण जीवन संभव हो सके ।"[1] क्योंकि जीवन और समाज ऐसे दो तत्व हैं जो हर सृजनधर्मी के लिए अनिवार्य हैं और जिनके तह में पैठकर वह मानव मूल्य को ढूँढ निकलता है । अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का संघर्ष सदा सत्ता के विरोध में होता है जो प्रकृति से, परिवेश से, सामाजिक संबंधों से, दायित्वों से और संस्कारों से जुड़ जाने में लेखक को बाधा पहुँचाती है । अभिव्यक्ति की स्वाधीनता विषयक ये निष्कर्ष इस बात को पुष्ट करते हैं - लेखक या व्यक्ति की स्वाधीनता अपने आप में निरपेक्ष अवधारणा नहीं वह वर्गहितों से सापेक्ष है । लेखकीय स्वतंत्रता की लड़ाई इस समय बुर्जुआ अधिकारों की लड़ाई का एक अंग है । लेखक को न सिर्फ अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़नी चाहिए, बल्कि व्यापक परिप्रेक्ष्य में फासिस्ट विरोधी लड़ाई में शामिल होना चाहिए ।[2] ये ढेर सारे निष्कर्ष स्वाधीनता की अवधारणा को विस्तृत और मज़बूत करते हैं ।

आजकल लेखक की स्वतंत्रता प्रच्छन्न तरीकों व अदृश्य तकनीकों द्वारा छीन ली जाती है। इसके आधार में जो नियामक शक्ति कार्यशील है उसे सत्ता कहते हैं सत्ता दूसरों को कुचलकर अपने बने रहने का ख्वाब देखती है । वह उतनी ही ज़्यादा सांस्कृतिक व्यक्ति की यह

---

1. राजेश्वर सक्सेना, स्वतंत्रता और समाज, प्रारूप, प्रवेशांक, पृ. 35.
2. जगदम्बाप्रसाद दीक्षित, लेखकीय स्वतंत्रता का सवाल, पक्षधर जनवरी-मार्च 1978, पृ. 64.

स्वाधीनता आवाज़ छीनने, दबाने और घोटने की कोशिश करती है । संस्कृति पर पड़नेवाले दबाव से ही सत्ता का चरित्र निरूपित होता है ।[1] इस अर्थ में अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का सवाल संस्कृति के अहमियत का भी सवाल है । पिछले दिनों लेखक की स्वाधीनता का हनन करने का जो सामूहिक प्रयास हुआ है जिसे इस परिप्रेक्ष्य में समझना-समझाना है ।

आज का माहौल राजनीति का है । राजनीतिक सत्ता ने मौजूदा युग में शासकों के एक विशेष वर्ग का उत्पादन किया है । जब लेखन सीधे-साधे शासक वर्ग के लिए खतरा पैदा करता है और उसके तेवर साफ तौर पर राजनीतिक और पक्षधर होते हैं तब अभिव्यक्ति की स्वाधीनता पर खतरा आता है ।[2] यहाँ सत्ताधारी वर्ग और सृजनधर्मी के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा होती है । सृजनधर्मी के चिंतन और लेखन की आज़ादी के अपहरण में जब सत्ताधारी शासक वर्ग पराजित होता है तो वह उसके खिलाफ झूठ, छल-कपट तथा बहानों के साथ साथ हिंसा के हथियारों का भी प्रयोग करता है । समकालीन लघुपत्रिकाएँ विचारात्मक एवं सृजनात्मक दोनों स्तरों पर इस अमानवीय नीति के विरोध तथा प्रतिरोध की योजना तैयार कर रही हैं ।

उपभोक्तावादी दृष्टि की पहचान

फिलहाल समकालीन तीसरी दुनिया के एक डरावने

---

1. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, सांस्कृतिक दबाव और रचनाधर्मिता, मुक्ति, जुलाई 1984, पृ. 131.
2. धनंजयवर्मा, अभिव्यक्ति स्वाधीनता बनाम सत्ता और प्रतिष्ठान, समवेत, मई 1980, पृ. 120.

सांस्कृतिक संकट के रूप में उपभोक्तावाद सामने आया है । हमारे रोजमर्रा जीवन पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है । उपभोक्तावाद की अनेक आयामी एतराज को हिन्दी के समाजोन्मुखी लेखकों और लघुपत्रिकाओं ने गंभीरतापूर्वक लिया है । उपभोक्तावाद असल में एक सभ्यता विशेष है जिसका बीजांकुर मौजूदा सामाजिक व आर्थिक परिवेश में हुआ है । उपभोक्तावाद के मूल में जो मनोवृत्ति निहित है वह शोषण की है । आज़ादी के पहले उपभोक्तावादी सभ्यता उतनी खतरनाक नहीं थी जितनी वह आज है । उसका अधिकतर प्रभाव शहरी मध्यवर्ग पर पड़ रहा है । उपभोक्तावाद के असली चेहरे को समझने के लिए उपभोग और उपभोक्तावाद के अंतर का विश्लेषण होना है । उपभोग अंततः जीवन की आधारभूत आवश्यकता है । खाना-पीना, कपड़ा, घर, दवा, कला, किताब आदि मनुष्य को जीने के लिए अनिवार्य सामग्रियाँ हैं जिनका उपभोग मनुष्य की भौतिक और मानसिक ज़रूरतों की पूर्ति के हेतु होता है । "इसके विपरीत ऐसी वस्तुएँ जो मनुष्य की किसी मूल ज़रूरत या कला और ज्ञान की वृत्तियों की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं, लेकिन व्यावसायिक दृष्टि से प्रचार के द्वारा उसको ज़रूरी बना दी गयी हैं उपभोक्तावादी संस्कृति की देन हैं ।"[1] इस प्रकार उपभोक्तावादी सभ्यता शोषण की नयी रणनीति रचती है और मनुष्य को अधिकाधिक लाचार बना देती है ।

उपभोक्तावाद एक जटिल सामाजिक समस्या है । दरअसल वह पूँजीवादी संस्कृति है जो पुरानी व्यवस्था पर हावी हो रही है ।

---

1. सच्चिदानंद सिन्हा, सब कुछ संहार कर रहा है, उपभोक्तावाद, संवेद, जुलाई 1994, पृ. 23.

वह हमें पतन की ओर ले जा रही है ।[1] उपभोक्तावादी सभ्यता समाजवादी या समतावादी सामाजिक अवधारणा को क्षीण करती है । वह वर्ग-व्यवस्था की स्थापना के लिए अनुकूल वातावरण गढ़ती है और वर्गहीन समाज की निर्मिति के तमाम प्रयासों को चुनौती देती है । इस सभ्यता का एक मुख्य उद्देश्य होता है लोगों में उपभोगवृत्ति उत्तरोत्तर तीव्र हो जाय और पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया जीवन्त रह जाय । विज्ञापन और मुक्त बाज़ार उपभोक्तावाद के दो तेज़ हथियार हैं । इन हथियारों के द्वारा उपभोक्तावाद जनसाधारण में एक विशेष प्रकार की गुलामी मानसिकता उत्पन्न करता है और जनमानस को एक उपनिवेश के रूप में परिवर्तित करता है जिसमें मनोविज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों का सहारा भी लिया जाता है ।

यद्यपि इलक्ट्रानिक मीडिया के आविष्कारों के बुनियादी लक्ष्य ज्ञान, विज्ञान और संस्कृति के क्षितिजों को विकसित करना रहे हैं फिर भी वर्तमान युग में उपभोक्ता सभ्यता के संप्रेषण के सामान्य साधन के रूप में उनका इस्तेमाल होता है । वे उपभोक्तावाद के आक्रामक प्रसार का सबसे तेज शस्त्र हैं । इस तरह दूरदर्शन, स्टार, टी.वी, केबल टी.वी, रेडियो, व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाएँ, विज्ञापन आदि वि-संस्कृतिकरण की दिशा में बढ़ रहे हैं । लघुपत्रिकाएँ संस्कृति की इन आधुनिकतम चुनौतियों से लड़ती आ रही हैं । "समकालीन सृजन" का वि-संस्कृतिकरण की

---

1. डॉ. रामशरण शर्मा, साक्षात्कार से उद्धृत, कतार, नवंबर 1993, पृ. 48.

विभीषिकाओं पर केन्द्रित अंक (1988) इस दृष्टि से एक सराहनीय कार्य है ।

उपभोक्तावादी सभ्यता एक ऐसे समाज का निर्माण करती है जहाँ मानव का कोई मूल्य नहीं रहता । वह केवल एक उपभोक्ता होता है । इससे परे उसका कोई सांस्कृतिक या ऐतिहासिक अस्तित्व नहीं है । उपभोक्तावादी सभ्यता के भीतर मानव का घोर यंत्रीकरण होता है और अपने जीवन के विषय में किसी विशेष निर्णय लेने में वह असमर्थ बन बैठता है । वह अपनी मर्जी के अनुसार न कुछ ले सकता है और न कुछ चुन सकता है । उसकी रुचि उपभोक्तावादी की रुचि में रूपांतरित होती है । रुचियों का उपर्युक्त समीकरण भूमंडलीकरण का प्रथम व प्रमुख चरण है । "नारी संवाद" "जागो बहन" जैसी लघुपत्रिकाओं ने फैशन और सौन्दर्य प्रतियोगिता को इसी नज़र से ताका है ।

उपभोक्तावाद के प्रचार के मूल में उपनिवेशवाद की स्थापना का कुटिल आग्रह कार्यशील है । उसके पीछे बहुराष्ट्रवादी निगमों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विकराल हस्त भी शामिल हैं ।[1] बहुराष्ट्रवादी या उपनिवेशवादी अपने उत्पादनों से ज़्यादा अर्थ स्वयं उन्हें विज्ञप्त करने केलिए करते हैं और परोक्ष रूप में इस विज्ञापन का भार दुबरा उपभोक्ताओं के सर पर थोप देते हैं । रंग और शब्द के चुम्बकत्व के कारण वे इस जाल में

---

1. संपादकीय, प्रयोजन, अंक-दो, पृ. 3.

फँस जाते हैं जिससे बाहर आना बेहद मुश्किल कार्य है । यह भारत सरीखे तीसरी दुनिया के देशों की स्वाधीनता के लिए बिलकुल खतरनाक है । समकालीन लघुपत्रिकाएँ मानवीयता को पतन के इस कगार से मुक्त करने के लिए प्रतिबद्ध हैं ।

आज पूरा भारतीय समाज, गाँव, नगर, महानगर और राजधानी सहित उपभोक्तावादी सभ्यता से उत्पीडित है । आधुनिक युग की अफीम उपभोक्तावादी हवित है । इस हवित के अधीन होने पर वस्तुओं को पाने की कल्पना में मज़दूर भी अपनी सामाजिक स्थिति भूल जाता है और अपने वर्ग-स्वार्थ की रक्षा के लिए शोषक वर्ग से संघर्ष करने के बजाय उस वर्ग की जीवन पद्धति की ओर ललचायी दृष्टि से देखने लगता है और एक हद तक उसका प्रशंसक बनकर उसके मूल्यों को आत्मसात् कर लेता है ।[1] यह स्थिति संस्कृति के सम्मुख अवश्य एक भयावह विडंबना है । क्योंकि मूल्य एक देश विशेष की सांस्कृतिक अस्मिता है । मूल्यों के स्तर पर होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन संस्कृति के परिवर्तन का कारण बनता है । रचना, जीवन-दृष्टि और सामाजिक संबंधों पर उसका असर पड सकता है ।

उपभोक्तावादी सभ्यता का केन्द्रीय बिम्ब शरीर है । यह शरीर स्त्री का होता है, पुरुष का होता है और बच्चों का भी । मगर

---

1. सच्चिदानंद सिन्हा, सब कुछ संहार कर रहा है उपभोक्तावाद, संवेद, जुलाई 1994, पृ. 26.

अपेक्षाकृत स्त्री के शरीर का ही शोषण ज़्यादा होता है । वर्तमान काल में उत्पादक उपभोक्ता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए दूरदर्शन और व्यावसायिक पत्रिकाओं में उसको लगातार नंगा कर देते हैं और उपभोक्ता की ऐन्द्रिय कुंठाओं को जगाते हुए अपने माल की बिक्री में बढ़ोत्तरी प्राप्त करते हैं । यों शृंगार-प्रसादन सामग्रियों से लेकर सिगरेट और मदिरा तक के विज्ञापन में स्त्री के शरीर का इस्तेमाल बना रहता है । उपभोक्तवाद के इस बाज़ार-तंत्र के अन्तर्गत स्त्री का आत्म सम्मान बारम्बार अपमानित होता है । यह पुरुषसत्तात्मक समाज के नारी-उत्पीड़न का एक मार्मिक दृश्य है । फलस्वरूप उपभोक्तावादी समाज-व्यवस्था में स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व मिट जाता है और वह सेक्स व शृंगार की मूल्यहीन सामग्री बन बैठती है । दूसरी दृष्टि से ऐसे विज्ञापन जिनमें स्त्री की नग्नता का प्रदर्शन होता है उपभोक्ता की यौन वासनाओं को उद्दीपन देते हुए समाज के संतुलन को विनष्ट करते हैं और सांस्कृतिक मूल्यों को विकृत करते हैं ।

उपभोक्तावाद साहित्य और संस्कृति के स्थान पर गैर-साहित्य और अपसंस्कृति का प्रचार देता है जिसके प्रतिरोध को समकालीन लघुपत्रिकाएँ अपनी ज़रूरी प्रतिबद्धता मानती हैं । उनके लिए उपभोक्तावादी सभ्यता के खिलाफ वार करने का आशय मानवीय संस्कृति एवं प्रगतिशील मूल्यों के संवाहक साहित्य के संप्रेषण से है । इस अर्थ में हिन्दी की समकालीन लघुपत्रिकाएँ उपभोक्तावादी सभ्यता के विरुद्ध संघर्ष की मुनादी है जिससे साहित्य, समाज और पाठक वर्ग उपभोक्तावाद के वि-संस्कृतिकरण की प्रवृत्तियों के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं ।

---

1. संपादकीय, नारी संवाद, अंक-13, पृ. 2.

सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार के आयाम

सांप्रतिक समय पूरे भारत वर्ष के सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर दलित आंदोलन का खूब प्रचार हो रहा है । वस्तुत: युग-युगों से समाज की मुख्य धारा से बड़ी क्रूरता के साथ दूर किये गये वर्ग विशेष के अनिवार्य जागरण के रूप में दलित आंदोलन का अभ्युदय हुआ है । मराठी के दलित साहित्य और दलित चेतना का इस पर बेहद असर पड़ा है । समकाल में मराठी की तरह हिन्दी की लघुपत्रिकाओंने भी इस विषय को ज़रूरी महत्व दिया है । "संचेतना" का दलित साहित्य विशेषांक (1981) और "आम आदमी" का दलित कविता अंक (1995) इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं ।

दरअसल हिन्दी में दलित साहित्य किसी खास प्रवृत्ति के रूप में नहीं उभर आया है । लेकिन प्रगतिशील साहित्य के अन्तर्गत संवेदना के स्तर पर दलित चेतना का आदर-सत्कार हुआ है । इस परिवेश में समकालीन लघुपत्रिकाओं का कार्य रहा है दलित साहित्य की अर्थ संबंधी अवधारणा को विकसित करना । उनकी राय में "वर्गों, वर्णों एवं अन्य संकुचित भेदों पर आधारित समाज व्यवस्था का विरोधी दलित साहित्य अपनी मूलभूत निष्ठाओं में सामाजिक संवेदना का साहित्य है ।"[1] उसके विस्फोटक तथा विद्रोहात्मक पक्षों का उद्घाटन करते हुए वे सामाजिक शोषण एवं तिरस्कार के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य का अनुशीलन करती हैं

---

1. चन्द्रकांत बांदिवडेकर, दलित साहित्य धारा, समकालीन सृजन, जुलाई-दिसंबर 1989, पृ. 154.

और उसकी प्रासंगिकता का समर्थन करती हैं । यह अवश्य सामाजिक परिवर्तन और समाजवादी समाज की संरचना का विशिष्ट आग्रह है तथा गैर मानवीय मनुवाद की लोह-शृंखला में आबद्ध एक जन-समूह को मुक्ति दिलाने का प्रयास भी है । समकालीन लघुपत्रिकाओं की मान्यता है कि दलित साहित्य की निष्ठाएँ केवल अछूत,दलित, आदिवासी, दुखी, पीड़ित मानव समाज तक ही सीमित नहीं बल्कि वे संपूर्ण मानव समाज के मूल्य हैं ।"[1] अत: वह विरोध और आलोचना की कालोचित प्रतिबद्धता है जो एक ओर क्रूरता और यातना के भयानक सामाजिक संदर्भ को पाठक के सामने पेश करता है दूसरी ओर वह निंदित और उपेक्षित समुदाय को संघर्ष के लिए अदम्य प्रेरणा देता है । समकालीन लघुपत्रिकाएँ इस सांस्कृतिक कार्यक्रम की सहयोगी सिद्ध हो रही हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाएँ जीवन के शांतिमूल्यों के प्रचार के लिए हमेशा प्रतिबद्ध हैं । युद्ध, आतंकवाद, हिंसा आदि ऐसे तत्व हैं जो समसामयिक परिवेश में जीवन के शांति मूल्यों के सामने गंभीर संकट उपस्थित करते हैं । इनके खिलाफ लघुपत्रिकाओं ने लेखकों, विचारकों, समाजशास्त्रियों, सांस्कृतिक कर्मियों और बुद्धिजीवियों का मोर्चा तैयार किया है और पाठक को सचेत किया है । "समकालीन सृजन" के युद्धविरोधी अंक, हिंसा की चुनौतियों पर केन्द्रित अंक"आज की कविताएँ"के युद्ध विरोधी कविताओं का दस अंक आदि इस दिशा के कुछ रचनात्मक कदम हैं । "आज की कविताएँ" की तरफ से प्रकाशित "बात युद्ध" की और "आतंकबीज" ऐसे दो काव्य संकलन हैं जिनमें क्रमश: युद्ध और आतंकवाद के विषैले तत्वों की ओर पाठक वर्ग का

---

1. ताराचन्द्र खाण्डेकर, दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, सचेतना, दिसंबर 1981, पृ. 79.

ध्यान खींच लेते हैं । यहाँ सबसे प्रमुख बात यह है कि समकालीन लघुपत्रिकाओं ने हिंसा की समस्या की चर्चाओं को कभी अपने क्षेत्र, राज्य या देश के दायरों में सीमित नहीं रखा है । उन्होंने मानवीयता के हिमायत पर अडिग खड़े होकर वैश्विक या भौगोलिक स्तर पर हिंसा के आचरणों का विचार-विमर्श किया है । उनके सभी वैचारिक और सृजनात्मक कार्रवाईयाँ मानव मात्र की शांति के लिए **रही** हैं ।

समकालीन लघुपत्रिकाओं के सामाजिक एवं सांस्कृतिक सरोकार के स्तर अत्यंत विशद हैं । सत्ता और शास्त्र की बढ़ती ताकत के परिप्रेक्ष में उनकी कामना सदा यही रही है कि संसार में मानव मूल्यों की स्थापना हो जाय और मानव जीवन निरंतर मंगलमय हो । इस अभीप्सा की पूर्ति के लिए वे मुख्यत: तीन कार्य करती हैं - समाज और संस्कृति के समसामयिक संकटों व चुनौतियों की खोज, उनका विश्लेषण तथा उनके खिलाफ विचारात्मक और सर्जनात्मक स्तर पर लेखक एवं पाठक का संगठन । समकालीन लघुपत्रिकाओं का अध्ययन इसका गवाह है कि अपने सीमित साधनों के बावजूद समकालीन लघुपत्रिकाओं ने इस दिशा में कुछ सफलता अवश्य हासिल की है ।

उपसंहार

उपसंहार

मनुष्य की विकास-यात्रा के पूरे प्रकरण में उसके ज्ञानार्जन की अभीप्सा का सर्वाधिक महत्व है । पत्र-पत्रिकाओं का अभ्युदय ज्ञानार्जन की इस अभीप्सा की पूर्ति के हेतु हुआ है । उसने मनुष्य के ज्ञान के क्षितिजों को विकसित करने के साथ-साथ उसके सांस्कृतिक बोध को उद्दीप्त किया है, उसे मानवीयता की पहचान भी दी है ।

मौजूदा युग में पत्रकारिता लोक जीवन से जुड जाने का सहज प्रयास है । वह समाज के समूचे अंगों में जनतांत्रिक आस्था को कायम रखने की आग्रही दृष्टि का द्योतक है । पत्रकारिता में अतीत का इतिहास ढला हुआ है और उसमें वर्तमान की गति-विधियों की सही पहचान है । वह अपने ये ढेर सारे अनुभवों के विशाल परिप्रेक्ष्य में मनुष्य का भविष्य गढने की कल्पना करती है । पत्रकारिता के कुछ निहित उद्देश्य हैं जो मात्र सूचनाओं के संकलन और प्रकाश तक सीमित नहीं हैं । सामाजिक एवं सांस्कृतिक संपृक्ति का निर्वहण उसका चरम कार्य है ।

पत्रकारिता और मूल्यों का गहरा संबंध है । पत्रकारिता मूल्यों की निर्माता और नियामिका है । मूल्य-विकास में उसकी गहरी भूमिका है । पत्रकारिता से जुड़े हुए अनेक मूल्य हैं जैसेकि सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, नैतिक, मानवीय आदि । अंततः उसकी मूल्यदृष्टि का आधार मानवीय चेतना है । परंपरा और युगबोध उसकी विशेष प्रेरणाएँ हैं । समाज में प्रचरित अनेकानेक विचारधाराओं से भी पत्रकारिता की मूल्यदृष्टि लाभान्वित है । आज आज़ादी, अन्याय का विरोध, देशप्रेम और मानव कल्याण पत्रकारिता के प्रमुख मूल्य हैं । वह समाज में इन मूल्यों को पारित करने की कोशिश करती है और स्वयं इन मूल्यों की प्रहरी बनती है ।

पत्रकारिता की मूल्यदृष्टि के संप्रेषण और प्रचार में भारतीय पत्रकारिता ने अद्भुत कार्य किया है । पत्रकारिता का इतिहास इसका गवाह है । भारतीय पत्रकारिता के इस मूल्यबोध का सच्चा प्रतिबिम्ब है हिन्दी पत्रकारिता । हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव उन्नीसवीं शती में हुआ है । उसका परिवेश अंग्रेज़ी शासनकाल था । इस दौर की पत्रकारिता के कुछ विशेष सामाजिक और राजनीतिक दायित्व रहे हैं । उन्होंने तत्कालीन ब्रिटिश शासकों की गैर भारतीय नीतियों की निंदा की है और उनके उत्पीडन के विविध संदर्भों को पाठकों के सामने रखा है । उस काल में धीरे-धीरे उभरती राष्ट्रीय चेतना को हिन्दी पत्रकारिता ने पहचान लिया है । उस दौर में हिन्दी में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई हैं जिनके माध्यम से भारतीय पत्रकारिता की अपनी अवधारणात्मक स्थिति सुस्थिर हो गई । इस तरह पहली बार भारतवासियों को अपने विचार और भावना को अभिव्यक्त करने का अवसर मिला ।

भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलनों को प्रचरित करने की सबसे महान भूमिका हिन्दी पत्रकारिता ने निभाई है । पराधीन भारत की पूरी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का लक्ष्य भारत की आज़ादी था । उनके लिए आज़ादी ही सबसे विशिष्ट मूल्य था । ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के उग्र शासन और क्रूर नीतियों के शिकंजे में पिसती भारत की जनता की आवाज़ को उन्होंने दूर दूर तक सुना दी । भारत की स्वतंत्रता आंदोलन को गतिशीलता देने में हिन्दी में संपादकों ने गंभीर सहयोग दिया है जो स्वयं राष्ट्रीय आंदोलन के अगणी नेता थे । उस दौर में अजीमुल्लाखां जैसे कुछ तेजस्वी संपादक भी हुए हैं जिन्होंने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की बलिवेदि पर स्वयं चढ़ाई की है । यह स्वाधीनतापूर्व भारत की हिन्दी पत्रकारिता के आदर्श का निदर्शन है ।

हिन्दी भाषा-भाषी प्रांतों के लोगों में स्वाधीन बोध और जातीय चेतना की निर्भिति में हिन्दी पत्रकारिता ने महती सामर्थ्य प्रदर्शित की है । उन्होंने विचारोत्तेजक अग्रलेख, आलेख, गीत, घोषणा पत्र आदि के माध्यम से आज़ादी की अनिवार्यता पर ज़ोर दिया है । इसकी रचनात्मक सिद्धि यह है कि आज़ादी की लडाई में जनता एकत्रित हुई और वे जनता अपने राजनीतिक कर्तव्य के निर्वहण में अटल रही । इन सबकी ऐतिहासिक परिणति है भारत की आज़ादी । स्वाधीनतापूर्व हिन्दी पत्रकारिता के मूल्य-विचार ने परवर्ती पत्रकारिता पर अक्षुण्ण प्रभाव छोडा है ।

वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक प्रगति के आधुनिक समय में हिन्दी पत्रकारिता का पर्याप्त विकास हुआ है । उसके अनेक रूप सामने आये हैं

और उसकी दिशाएँ विशद हुई हैं । लघुपत्रिका पत्रकारिता की सांस्कृतिक प्रतिबद्धता का नया आयाम है । वस्तुतः लघुपत्रिका एक पश्चिमी अवधारणा है । यद्यपि पश्चिमी देश की "लिटिल मैगज़िन" के ढेर सारे तत्वों से हिन्दी की लघुपत्रिका मेल खाती है फिर भी भारत के विशेष सामाजिक और साहित्यिक वातावरण में उसकी अलग अस्मिता है । वह साहित्यिक पत्रकारिता का विशिष्ट रूप है जिसमें गैर व्यावसायिकता, उदात्त रचनाशीलता, प्रगतिशीलता, प्रयोगशीलता, कलात्मक अभिरुचि, लोकचेतना, मूल्यबोध आदि के अनेक संघटक संलग्न हैं । सांस्कृतिक क्षेत्र में एक वैचारिक विद्रोह के रूप में लघुपत्रिका अवतरित होती है । लघुपत्रिका का संघर्ष और कलह सदा सत्ता के विरुद्ध है । वह राजाश्रित और सेठाश्रित पत्रिकाओं की स्वार्थपरता के असलियत को स्पष्ट करती है और पत्रकारिता की सांस्कृतिक भूमिका को रेखांकित करती है । इस प्रकार वह घोर प्रतिष्ठानवाद और व्यावसायिकतावाद में की जंजीरों में आबद्ध पत्रधर्मिता का मुक्ति दिलाती है । उसकी यथार्थ ताकत "पवर" या धनकेन्द्री दृष्टि नहीं वरन् अपराजेय निष्ठा है । लघुपत्रिका का यह मानवीय अंश भी मुख्य है ।

लघुपत्रिका में कुछ आधारभूत लक्ष्य हैं जो मुख्यतः साहित्यिक और सामाजिक हैं । वह नये सृजनात्मक अनुभवों, नयी जीवनानुभवों, नयी साहित्यिक अवधारणाओं, और नये सौंदर्य मूल्यों को पूरी ताज़गी के साथ संप्रेषित करती है । वह नये प्रतिभावान लेखकों को समुचित प्रोत्साहन देती है, प्रयोगशीलता के प्रति सजग रहती है, साहित्य

की जनतांत्रिक चेतना को कायम रखती है, नयी राजनीतिक दृष्टि प्रदान करती है, और साहित्यिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक संपृक्ति के आयामों विकास देती है ।

हिन्दी में लघुपत्रिका की एक ओजस्वी परंपरा है जो अपने उषाकाल में साहित्यिक पत्रिका के नाम से जानी जाती थी । दरअसल साहित्यिक पत्रिका के लिए "लघुपत्रिका" शब्द का प्रयोग स्वाधीनता के बाद रूढ हुआ है । अर्थात् पराधीन कालीन साहित्यिक पत्रिका और स्वाधीन कालीन लघुपत्रिका के बीच कोई तात्विक अंतर नहीं है । वे एक ही नदी की दो धाराएँ हैं जिनकी सृति और गति समान है । इस दृष्टि से, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा संपादित "कविवचनसुधा" हिन्दी की पहली लघुपत्रिका हैं ।

आम तौर पर हिन्दी की लघुपत्रिका के इतिहास के चार मोड हैं - नवजागरण काल, राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम काल, आधुनिक काल और समकाल । इन भिन्न-भिन्न कालों में लघुपत्रिकाओं की प्रमुख अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न रही हैं । नवजागरणकाल की लघुपत्रिकाएँ नवजागरण के महान संदेशों से प्रभावित थीं । उनमें सामाजिक चेतना अत्यंत तीव्र थी । जातिवाद, सांप्रदायिकता, छुआछूत, सामाजिक शोषण, स्त्रियों का उत्पीडन, धार्मिक पाखंड, अन्धविश्वास आदि की कठिन आलोचना होती थी । एक स्वस्थ समाज का निर्माण उनकी चरम इच्छा थी । परवर्ती राष्ट्रवादी

पत्रकारिता की जातीय चेतना का आरंभिक रूप इन लघुपत्रिकाओं में देख सकते हैं । लघुपत्रिका की जनधर्मी चेतना का प्रथम परिचय नवजागरणकालीन लघुपत्रिकाओं में मिलता है । इनकी साहित्यिक गरिमा यह है कि हिन्दी गद्य साहित्य का आरंभ इनके द्वारा हुआ है ।

राष्ट्रीय, मुक्ति-संग्राम के दौर की लघुपत्रिकाओं की केन्द्रीय प्रतिबद्धता भारत के राष्ट्रीय आंदोलनों को त्वरित करने की थी, इस कालखंड की पत्रिकाओं की राजनीतिक दृष्टि को रूपायित करने में गाँधीवादी विचारधारा का काफी योगदान है । उन्होंने अहिंसा और शांति मूल्यों पर ज़्यादा बल दिया था । राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम काल की लघुपत्रिकाओं का राजनीतिक स्वर अत्यंत दृढ़ था । उनके द्वारा अंग्रेज़ी साम्राज्यवादियों की कुटिल नीतियों के अनेक जटिल दृश्यों का पर्दाफाश हुआ है । उन्होंने पाठकीय चेतना को उद्दीप्त करते हुए उनमें राष्ट्रीय नवोन्मेष की आग भर दी ।

स्वतंत्रतापूर्व लघुपत्रिकाओं के प्रति अंग्रेज़ी सरकार कभी उदारचेता नहीं रही थी । उसने लघुपत्रिकाओं के सांस्कृतिक कार्यक्रमों को रोक लगाने के लिए अनेक कुत्सित कार्य किये हैं । उनके द्वारा बहुत-से संपादक, अपने निर्भीक अग्रलेखों की वजह से, जेल भेज दिये गये और अनेक पत्रिकाओं से हज़ारों रुपये जमानत माँगी गयी । जब जमानत देने में वे असफल रहीं, तब सरकार ने सदा के लिए उन्हें बंद कर दिया । पराधीन भारत

की पत्रकारिता के इतिहास में ऐसी कई लघुपत्रिकाएँ प्राप्त हैं जो अपने अपार देश प्रेम और असाधारण आलोचना-दृष्टि के कारण अल्प आयु रही हैं । स्वतंत्रता पूर्व भारत की लघुपत्रिकाओं के ये महान आदर्श स्वातंत्र्योत्तर लघुपत्रिकाओं के लिए बडी प्रेरणा हैं ।

नवजागरणकालीन और राष्ट्रीय मुक्ति-संग्रामकालीन लघुपत्रिकाओं का एक प्रबल साहित्यिक पक्ष भी है । हिन्दी साहित्य के इतिहास के तीन प्रमुख युग - भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावादी युग - की अवधारणा इन्हीं पत्रिकाओं के द्वारा हुई है । खडीबोली का उद्भव और विकास इस दौर में हुआ है । कहानी, आलोचना, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत जैसी गद्य की विभिन्न विधाओं के आरंभिक रूप स्वतंत्रता पूर्व लघुपत्रिकाओं में दिखाई देते हैं । इस प्रकार हिन्दी गद्य साहित्य की दृढ नींव डालने में इन पत्रिकाओं ने अहम भूमिका निभायी है ।

नवजागरणकालीन व राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम कालीन लघुपत्रिकाओं ने साहित्यिक पत्रकारिता को नया मोड दिया । इन लघुपत्रिकाओं के माध्यम से प्रगतिशील व जनधर्मी साहित्यिक पत्रकारिता का उदय और उत्कर्ष हुआ है । उन्होंने पत्रकारिता, साहित्य और जनसाधारण के बीच एक आत्मीयतापूर्ण संबंध का सूत्रपात किया । फलत: साहित्यिक पत्रकारिता की सामाजिक चेतना तीव्र हुई और प्रतिबद्धता सृजन, आस्वादन एवं आलोचना का प्रतिमान माने जाने लगी ।

सामान्यत: स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के दो दशक आधुनिक लघुपत्रिकाओं का दौर हैं । हिन्दी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों का परिचय पहली बार इन लघुपत्रिकाओं में उपलब्ध होता है । वे सद्यप्राप्त राष्ट्रीय स्वातंत्र्य से बहुत कुछ प्रभावित थीं । अतएव आज़ादी एक विशिष्ट सृजन-मूल्य के रूप में उन पत्रिकाओं में उभर आयी है । उनमें विज्ञान और प्रौद्योगिकी की विकासशीलता का गहरा अनुभव था । एक स्वस्थ साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि को रूपायित करने में यह अनुभव सहायक सिद्ध हुआ है । आधुनिक लघुपत्रिकाएँ पश्चिमी आधुनिकतावाद से काफी प्रेरित थीं । उनमें प्रगतिशील साहित्यिक चिंतन की परछाई पडी हुई है ।

आधुनिक लघुपत्रिकाओं ने हिन्दी में नयी सौंदर्यानुभूतियों तथा आस्वादनशीलता का परिचय दिया है । व्यक्ति की आज़ादी उनके लिए सबसे महान मूल्य थी । आत्म संघर्ष उनकी केन्द्रीय मुद्रा रही है । यह संघर्ष विशेषकर रचना, आस्वादन और मूल्यांकन के स्तरों पर अधिक दिखाई देता था । उन्होंने अपने तमाम संघर्षों के बावजूद वस्तु और रूप, प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता तथा व्यक्ति मूल्य और सामाजिक मूल्य के बीच समन्वय की कोशिश की है। हिन्दी पत्रकारिता में मानवतावाद, नवलेखन, सह-अनुभूति, नव्य चिंतन, कलावाद आदि को प्रतिष्ठित करने में आधुनिक लघुपत्रिकाएँ अवश्य कार्यशील हुई हैं ।

हिन्दी साहित्य के आधुनिकीकरण का पूरा श्रेय आधुनिक लघुपत्रिकाओं को जाता है । उनकी तरफ से सबसे अधिक प्रोत्साहन कविता

को प्राप्त हुआ है । आधुनिक लघुपत्रिकाओं में कविता की जो इतनी सारी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं वह हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास का अपूर्व दृश्य है । हिन्दी की "नयी कविता" उनकी श्रेष्ठतम उपलब्धि है । हिन्दी की "नयी कहानी" की अवधारणा में भी आधुनिक लघुपत्रिकाओं का उल्लेखनीय सहयोग साबित हुआ है । स्वातंत्र्योत्तर युग के सभी नामी हस्ताक्षर उनके द्वारा प्रकाश में आये हैं । इस तरह हिन्दी की समकालीन लेखन की पृष्ठभूमि असल में आधुनिक लघुपत्रिकाओं ने तैयार की है ।

हिन्दी में नियमित ढंग से, सन् साठ के उत्तरार्द्ध से, समकालीन लघुपत्रिका की खास प्रवृत्तियाँ नज़र आती हैं । दिशा और दृष्टि के आधार पर समकालीन लघुपत्रिका को स्वतंत्रता पूर्व साहित्यिक पत्रिका का नया संस्करण कहा जा सकता है । उसमें आधुनिक लघुपत्रिका की गुणात्मक प्रवृत्तियों का लय हुआ है । वह समकालीन जीवन और परिवेश की माँग का स्वाभाविक आविष्कार है । वह पत्रकारिता के बढते व्यवसायकरण की घोर विरोधी है । वह साहित्य और संस्कृति को पूँजी के प्रभुत्व और सत्ता के दंभ से बचाती है । साहित्य के वि-संस्कृतिकरण और समाज व संस्कृति के प्रदूषण के खिलाफ पाठक वर्ग की जागरूकता को बनायी रखती है ।

समकालीन लघुपत्रिका साहित्य को मानव मूल्यों व सामाजिक संपृक्ति को संप्रेषित करने का उचित साधन मानती है । अतएव वह पाठक वर्ग के लिए अच्छा साहित्य प्रकाशित करती है और उनमें पढने की

रुचि पैदा करती है । उसके द्वारा लेखक और पाठक के बीच संवाद की विशेष स्थिति उत्पन्न होती है । समकालीन लघुपत्रिका की सबसे सराहनीय देन यह है कि वह इलक्ट्रोनिक संचार माध्यमों के भयानक आक्रमण के समसामयिक परिवेश में पढने की संस्कृति को पुनः दाखिल करती है ।

कविता, कहानी, आलोचना जैसी समकालीन साहित्य की तमाम सृजनात्मक विधाओं के विकास में समकालीन लघुपत्रिकाओं ने अवश्य सहयोग दिया है । समकालीन रचनाधर्मिता के स्वरूप और कार्यरूप उनके द्वारा निर्धारित हुए हैं । वे साहित्य की समसामयिकता को पहचान करती है । साथ ही साहित्य की समस्याओं एवं संकटों का उद्घाटन करती हैं । वाद, विवाद और संवादों के माध्यम से समकालीन लघुपत्रिकाएँ समकालीन साहित्य के आयामों को विस्तार देती हैं और इनमें पाठक वर्ग को भी शामिल करती हैं । फलतः पाठक वर्ग की अन्तस्थली में साहित्य के प्रति एक खास आकर्षण उत्पन्न हुई है । सृजन और संवेदना की सीमा को विकसित करने के उद्देश्य से समकालीन लघुपत्रिकाओं ने अनेक विशेषांकों का आयोजन भी करती हैं इनके द्वारा साहित्य की मूल्यदृष्टि, आस्वादनशीलता और आंदोलनात्मक वेग में अनेक परिवर्तन आये हैं ।

पाठक वर्ग की संवेदना के क्षितिजों को विकसित करने के लक्ष्य में समकालीन लघुपत्रिकाएँ साहित्य को इतर कलाओं के संपर्क में लायी हैं । अन्य कलाओं के नैकट्य और प्रेरणा से लघुपत्रिकाओं की सृजन-धर्मिता की प्रगति हुई है, सृजन के विविध पक्षों की समृद्धि हुई है और

उसके बिम्ब-विधान व सौंदर्य मूल्यों को नये आयाम प्राप्त हुए हैं । समकालीन लघुपत्रिकाओं में इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थनीति, दर्शन जैसे ज्ञान की विभिन्न विधाओं का भी उचित स्थान दिया गया है जिससे पाठक का ज्ञान-भंडार समृद्ध हुआ है और समाज एवं संस्कृति की चुनौतियों का विश्लेषण करने की दक्षता उन्हें मिल गयी हैं ।

लघुपत्रिकाओं की सबसे महत्वपूर्ण खूबी उनकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक सरोकार है और वही मूलत: उनकी मूल्यदृष्टि है । समकालीन लघुपत्रिकाओं की सामाजिक और सांस्कृतिक संपृक्ति की दो दिशाएँ हैं । एक ओर वे समाज और संस्कृति की वास्तविक चुनौतियों की सही समझ लेती हैं और वैचारिक व सृजनात्मक स्तर पर उनका समाधान ढूँढती हैं । सांप्रदायिकता, साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद, जातिवाद, दलित, नारी उत्पीडन व शोषण, उपभोक्तावाद, अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का अपहरण आदि ऐसे कुछ सामाजिक एवं सांस्कृतिक चुनौतियाँ हैं जो समकालीन लघुपत्रिकाओं के सामने खडी हैं । समकालीन लघुपत्रिकाओं ने इन चुनौतियों का बडे साहस के साथ वैचारिक एवं सृजनात्मक स्तर पर सामना किया है, इन पर गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श किया है और उनकी भीषणता के बहुआयामी चित्र उभारे हैं । इन सबका रचनात्मक परिणाम यह हुआ है कि आज समाज और संस्कृति की चुनौतियों व संकटों से लडने के लिए लेखकों, विचारकों, कलाकर्मियों, समाजशास्त्रियों, सांस्कृतिक कर्मियों तथा बुद्धिजीवियों की एक संयुक्त मोर्चा खुद आयोजित हो रहा है । इस मोर्चे की विशेषता यह है कि इसमें बडी मात्रा में पाठक वर्ग की भी भागीदारी रहती है । समकालीन लघुपत्रिकाओं के सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार या मूल्यदृष्टि का यह एक सर्वोच्च शिखर है ।

संदर्भ-सूची

प्रमुख साहित्यिक लघुपत्रिकाएँ

अंतर्दृष्टि. विनोददास लखनऊ
अकविता, जगदीश चतुर्वेदी. दिल्ली.
अब. शंकर/अभय/नर्मदेश्वर. सासाराम.
अभिप्राय. राजेन्द्रकुमार. इलाहाबाद.
अभिव्यक्ति. शिवराम. राजस्थान.
अलाव. रामकुमार कृषक. दिल्ली.
आंकठ. हरिशंकर अग्रवाल. पिपरिया.
आज की कविताएँ. गिरिजाशंकर मोदी. बांका.
आदमी. नरेन्द्र मौर्य. हरदा.
आनंद कादंबिनी. बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन". मुर्जापुर.
आम आदमी. रमणिका गुप्ता. हज़ारीबाग.
आवेग. प्रसन्नकुमार ओझा. रतलाम.
आहट ब्रह्मदेवप्रसाद कार्यी बिहार.
इंदु. अम्बिकाप्रसाद गुप्त. काशी.
इतिहासबोध. लालबहादुर वर्मा, इलाहाबाद.
इत्यलम्. नंदकिशोर तिवारी. रायपुर.
इसलिए. राजेश जोशी. भोपाल.
उत्तरगाथा. सव्यसाची. मथुरा.
उत्तरार्द्ध. सव्यसाची. मथुरा.
उद्भावना. सरवर हसन "सरवर". गाजियाबाद.
उन्नयन. श्रीप्रकाश मिश्र. इलाहाबाद.
एक और अंतरीप. प्रेमकृष्ण शर्मा. जयपुर.

और. विजेन्द्र. जयपुर.

क. ख. ग. रघुवंश. इलाहाबाद.

कतार. बृजबिहारी शर्मा. धनबाद.

कथन. रमेश उपाध्याय. दिल्ली.

कथा. मार्केण्डेय. इलाहाबाद.

कथानक. सुनिल कौशिश. कानपुर.

कथाभाषा. हरेराम समीप/अशोक गुप्ता. फरीदाबाद.

कलम. अरुण माहेश्वरी. कलकत्ता.

कल्पना. मधुसूदन चतुर्वेदी/बदरी विशाल पित्ती. हैदराबाद.

कविवचनसुधा. भारतेन्दु. काशी.

कहानी. श्रीपतराय. इलाहाबाद.

कहानियाँ. सत्येन कुमार. भोपाल.

कारखाना. रमेश नीलकमल. जमालपुर.

कृति. श्रीकांतवर्मा/नरेश मेहता. दिल्ली.

गवाह. भगवानदास शर्मा. औरंगाबाद.

चाँद. रामरख सहगल/चंडीप्रसाद हृदयेश. इलाहाबाद.

जागरण. शिवपूजन सहाय/प्रेमचंद. काशी.

जागो बहन. शांति ओझा. पटना.

जारी. भगवतसिंह सोनी. रायपुर.

जिज्ञासा. पुरुषोत्तम अग्रवाल. दिल्ली.

तनाव. वंशी माहेश्वरी. पिपरिया.

दस्तक. राघव आलोक. जमदेशपुर.

दस्तावेज़. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी. गोरखपुर.

धरातल. अयोध्यानाथ-शांडिल्य. बिहार.

नई धारा. उदयराज सिंह. पटना.

नई रचना. मदनमोहन. गोरखपुर.

नया पथ. इसराइल. दिल्ली.

नयी कविता. जगदीश गुप्त. इलाहाबाद.

नागरीनीरद. बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन". मुर्जापुर.

नारी संवाद. रेणुदिवान. जमशेदपुर.

निनाद. जिया हैदरी. रायपुर.

परिवेश. कुमार संभव. मुरादाबाद.

पल प्रतिपल. देश निर्मोही, हरियाणा.

पश्यन्ती. प्रभात मित्तल/अमृता भारती. हापुड.

पहल. ज्ञानरंजन. जबलपुर.

पुरुष. विजयकांता. मुजफ्फरपुर.

प्रतिबद्ध कविता. बलवीर सिंह. दिल्ली.

प्रतिशीर्षक. वी. एन. सिंह. कानपुर.

प्रतीक. अज्ञेय. इलाहाबाद.

प्रभा. माखनलाल चतुर्वेदी. खाण्डवा.

प्रयोजन, वीरेन्द्र यादव. लखनऊ.

प्रसंग. शंभु बादल. हज़ारीबाग.

प्रारूप. राजेन्द्र मेहरोत्रा. इलाहाबाद.

बहुमत. विनोद मिश्र. भिलाई.

बालाबोधिनी. भारतेन्दु. काशी.

बिन्दु. नंदचतुर्वेदी. राजस्थान.

ब्राह्मण. प्रतापनारायण मिश्र. कानपुर.
मतवाला. निराला. कलकत्ता.
मधुकर. बनारसीदास चतुर्वेदी. टीकमगढ़.
मधुमाधवी. नलिनी उपाध्याय. जयपुर.
मर्यादा. कृष्णकांत मालवीय. प्रयाग.
माध्यम. बालकृष्ण राव. हैदराबाद.
मुक्ति. प्रदीप सौरभ. इलाहाबाद.
यथार्थ. स्वप्निल शर्मा. जिलाधार.
युग स्पंदन. निदारिया. दिल्ली.
रंगीला. निराला. कलकत्ता.
लहर. प्रकाश जैन. अजमेर.
लेखन. विद्याधर शुक्ल. इलाहाबाद.
वर्तमान साहित्य. से.रा.यात्री. गाजियाबाद.
वसुधा. भगवत रावत. भोपाल.
वातायन. हरीश भादानी. बीकानेर.
वाम. चन्द्रभूषण तिवारी. बिहार.
विपक्ष. भारत यायावर. बिहार.
विशाल भारत. बनारसीदास चतुर्वेदी. कलकत्ता.
विषयवस्तु. धर्मेन्द्र गुप्त. दिल्ली.
वैचारिकी. मणिका मोहिनी. दिल्ली.
संचेतना. महीप सिंह. दिल्ली.
संदर्श. सुधीर विद्यार्थी. शाहजहाँपुर.
संप्रेषण. चन्द्रभानु भरद्वाज. जयपुर.

संबोधन. कमर मेवाडी. राजस्थान.
संभव. सुभाष शर्मा. दिल्ली.
संभवा. ध्रुवनारायण गुप्त. भागलपुर.
सवेद. किशनकालजयी. जमालपुर.
सक्रिय कहानी. राकेश वत्स. अंबाला.
सबद. अस्मिता सिंह. पटना.
समकालीन सृजन. शंभुनाथ. कलकत्ता.
समवेत. प्रमोद बेडिया. पुरुलिया.
समांतर साहित्य. कामतानाथ. बंबई.
समालोचक. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी. जयपुर.
सम्यक. मदन मोहन उपेन्द्र. मथुरा.
सरस्वती. महावीरप्रसाद द्विवेदी. इलाहाबाद.
साखी. केदारनाथ सिंह. दिल्ली.
सामयिक वार्ता. किशन पटनायक. मुजफ्फरपुर.
साम्या. विजय गुप्त. अम्बिकापुर.
साहित्य वृत्त. विजय विजन. नोएडा.

हंस. प्रेमचन्द. काशी.
हंस. राजेन्द्र यादव. दिल्ली.
हरिश्चन्द्रचन्द्रिका. भारतेन्दु. काशी.
हिन्दी प्रदीप. बालकृष्ण भट्ट. प्रयाग.
ज्ञानोदय. लक्ष्मीचन्द्र जैन. कलकत्ता.

प्रमुख हिन्दी समाचार पत्र

आज. पराडकर. काशी.
उदन्तमार्तंड. युगल किशोर शुक्ल. कलकत्ता.
कर्मवीर. माखनलाल चतुर्वेदी. जबलपुर.
पयामे आज़ादी. अजीमुल्लाखां. दिल्ली.
प्रताप. गणेशशंकर विद्यार्थी. कानपुर.
भारत मित्र. बालमुकुन्द गुप्त. कलकत्ता.
सारसुधानिधि. दुर्गाप्रसाद मिश्र. कलकत्ता.
हरिजन. गाँधीजी. गुजरात.
हिन्दी केसरी. माधवराव सप्रे. नागपुर.

सहायक ग्रंथ (हिन्दी)

अमृतराय. आधुनिक भावबोध की संज्ञा. इलाहाबाद हंस प्रकाशन, 1972.

अमृतराय. कलम का सिपाही. इलाहाबाद हंस प्रकाशन, 1962.

गुप्त, जगदीश. नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ. दिल्ली भारतीय ज्ञानपीठ, 1971.

चतुर्वेदी, जगदीश प्रसाद. पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य. इलाहाबाद साहित्य संगम, 1987.

चतुर्वेदी, प्रेमनाथ. समाचार संपादन. दिल्ली उपहार प्रकाशन, 1969.

जोगेलकर, काशीनाथ गोविन्द. पत्र, पत्रकार और सरकार. वाराणसी विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1991.

जोशी, सुशीला. हिन्दी पत्रकारिता विकास और विविध आयाम. जयपुर राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1986.

जैन, रमेश (सं). भारत में हिन्दी पत्रकारिता. जयपुर बोहरा प्रकाशन, 1989.

तिवारी, अर्जुन. आधुनिक पत्रकारिता. वाराणसी विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1991.

तिवारी, भोलानाथ. पत्रकारिता में अनुवाद की समस्याएँ. दिल्ली शब्दकार, 1984.

तिवारी, रामचन्द्र. पत्रिका संपादन कला. दिल्ली आलेख प्रकाशन, 1977.

तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (सं). अज्ञेय. नई दिल्ली नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1978.

त्रिपाठी, गंगानारायण. हिन्दी पत्रकारिता और गद्यशैली का विकास. इलाहाबाद शांति प्रकाशन, 1987.

दुबे, राजीव. हिन्दी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आन्दोलन. सत्येन्द्र प्रकाशन, 1988.

दुबे, शिवकुमार. हिन्दी पत्रकारिता इतिहास एवं स्वरूप. इलाहाबाद परिमल प्रकाशन, 1992.

देव, आचार्य नरेन्द्र. साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति. दिल्ली प्रभात प्रकाशन, 1988.

द्विवेदी, रामस्वरूप (सं). आलोचना और समकालीन रचना. इलाहाबाद प्रतिभा प्रकाशन, 1988.

धवन, मधु. पत्रकारिता एक परिचय. मद्रास बोध प्रकाशन, 1993.

नगेन्द्र. सौंदर्यशास्त्र की भूमिका. दिल्ली नेशनल पब्लिकेशन, 1974.

नगेन्द्र (सं). हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती. आगरा विनोद पुस्तक मंदिर, 1972.

नगेन्द्र (सं). हिन्दी साहित्य का इतिहास. 13 वां. सं. नोएडा मयूर पेपरबैक्स, 1994.

नारायण, के.पी. संपादन कला. भोपाल मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1989.

पाण्डेय, मैनेजर. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका. चण्डीगढ हरियाणा साहित्य अकादमी, 1984.

पाण्डेय, रत्नाकर. हिन्दी पत्रकारिता प्रेमचंद और हंस. दिल्ली प्रवीण प्रकाशन, 1988.

पाण्डेय, श्रीनारायण. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नये संदर्भ की तलाश. इलाहाबाद शब्द भारती, 1988.

पाण्डेय, रत्नाकर. हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना. दिल्ली पांडुलिपि प्रकाशन, 1976.

पाण्डेय, लक्ष्मीकांत (सं). प्रेमचंद साहित्य संदर्भ. कानपुर ग्रन्थम, 1981.

ब्रह्मानंद. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता. दिल्ली वाणी प्रकाशन, 1986.

भटनागर, रामरतन. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र. इलाहाबाद किताब महल, 1947.

भानावत, संजीव. पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम. जयपुर यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स, 1988.

भारती, धर्मवीर. मानव मूल्य और साहित्य. वाराणसी भारतीय ज्ञानपीठ, 1960.

मिश्र, कृष्ण बिहारी. पत्रकारिता इतिहास और प्रश्न. नयी दिल्ली वाणी प्रकाशन, 1993.

मिश्र, कृष्ण बिहारी, हिन्दी पत्रकारिता. कलकत्ता भारतीय ज्ञानपीठ, 1968.

मिश्र, रामदरश. आधुनिक हिन्दी कविता सर्जनात्मक संदर्भ. हापुड (उ.प्र.) संभावना प्रकाशन, 1986.

मिश्र, शिवकुमार. प्रेमचन्द विरासत का सवाल. दिल्ली पीपुल्स लिटरसी, 1981.

मुक्तिबोध आखिर रचना क्यों. नयी दिल्ली राधाकृष्ण प्रकाशन, 1982.

मुक्तिबोध. नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. ती. सं. दिल्ली राधाकृष्ण प्रकाशन, 1980.

रघुवंश. भारतीय संस्कृति का रचनात्मक आयाम. दिल्ली नाशनल पब्लिशिंग हाउस, 1989.

राजकिशोर. पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य. दिल्ली साहित्य सहकार, 1993.

रामगोपाल. भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास. लखनऊ सलभ प्रकाशन, 1986.

रामबक्ष. प्रेमचंद. दिल्ली भारतीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 1981.

रांगेय, रणवीर (सं). साहित्य साधना और संघर्ष. दिल्ली भारतीय साहित्य मंदिर, 1965.

वर्मा, मृदुला. हिन्दी की सर्वोदय पत्रकारिता. कानपुर विद्याप्रकाशन, 1993.

वाजपेयी, अंबिकाप्रसाद. समाचार पत्रों का इतिहास द्वि.सं. वाराणसी ज्ञानमण्डल लिमिटेड, 1976.

वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास. द्वि.सं. दिल्ली राजपाल एण्ड सन्स, 1982.

वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (द्वि.सं.). इलाहाबाद साहित्य भवन, 1956.

वैदिक, वेदप्रताप (सं). हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम. दिल्ली नैशनल पब्लिशिंग हाउस, 1976.

वंशीधरलाल. भारतेन्दुयंगीन हिन्दी पत्रकारिता. कानपुर अनुभव प्रकाशन, 1986.

वंशीधरलाल. भारतीय स्वतंत्रता और हिन्दी पत्रकारिता. पाटना बिहार ग्रंथ कुटीर प्रकाशन, 1989.

व्रजरत्नदास. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र. इलाहाबाद हिन्दुस्तानी एकेदमी, 1962.

शर्मा, वेदव्रत. आधुनिक राजनीति की चिन्त्य धाराएँ. वाराणसी हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, 1963.

शर्मा, रामविलास. भारतेन्दु युग. आगरा विनोद पुस्तक मंदिर, 1963.

शर्मा, रामविलास. निराला की साहित्य साधना. दिल्ली राजकमल प्रकाशन, 1969.

शुक्ल, रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं. 2025.

श्यामसुन्दरदास (सं). हिन्दी शब्दसागर. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1969.

सक्सेना, राजेश्वर. इतिहास विचारधारा और साहित्य. दिल्ली कोणार्क प्रकाशन, 1983.

सहाय, रघुवीर. न लिखने का कारण. दिल्ली राजपाल एण्ड सन्स, 1978.

सिंह, त्रिभुवन (सं). साहित्यिक निबंध. वाराणसी हिन्दी प्रचारक संस्थान, 1976.

सिंह, बच्चन. हिन्दी पत्रकारिता के नये प्रतिमान. वाराणसी विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1989.

सिंह, सन्न बख्श. आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में सरस्वती का योगदान. कानपुर साहित्यालोक, 1986.

हरदयाल. सामाजिक मूल्य. दिल्ली विभूति प्रकाशन, 1985.

बुलेटिन -1, 2, 3, 4., समन्वय. (लघुपत्रिका समन्वय समिति के प्रकाशन)

सहायक ग्रंथ और पत्रिका (अंग्रेज़ी)

Ahuja.B.N. Theory and Practice of Journalism. New Delhi Surjeeth Publication, 1979.

Chaudhary, P.C.Roy. Gandhi The Man. Mysore Geetha Book House, 1974.

Elliot, Degi (ed.). Responsible Journalism. New Delhi Sage Publication, 1986.

Johnston, Donald H. Journalism and the Media An Introduction to Mass Communication. Newyork Barnes and Noble Books, 1979.

Krishnamurthy, Nadig. Indian Journalism. Mysore Mysore University, 1970.

Mann, Gian Sing. Journalism concept and controversory. Ludhiyana Gagen Publishers, 1988.

Natarajan.S. A History of the Press in India. New Delhi Asia Publishing house, 1962.

Parthasarathy, Rangaswami. Journalism in India. Bangalore Sterling Publishers Pvt.Ltd, 1989.

Wolseley, Ronald.E. (Ed.) Journalism in Modern India. New Delhi Asia Publishing House, 1964.

Span. Vol. XXXVI. May 1995.

सहायक ग्रंथ (मलयालम)

एम. गोविन्दन. एम. गोविन्दन के निबन्ध. कोट्टयम एन. बी. एस, 1985.

संदर्भ ग्रंथ (अंग्रेज़ी)

Larousse Illustrated International Encyclopaedia and Dictionary. McGraw: Hill International Book company, 1972.

The Encyclopedia Americana. Part.17. Newyork Americana Corporation, 1974.

The Encyclopedia Britanica. Volume 7. Chicago The University of Chicago, 1985.

पत्र-पत्रिकाएँ

अंतर्राष्ट्रीय श्रोता समाचार. अक्तूबर 1993.

आजकल. दिसंबर 1984, फरवरी 1970.

आलोचना. अक्तूबर-दिसंबर 1967. अप्रैल-जून 1977. जुलाई-सितंबर 1977.

गगनाञ्जल. वर्ष 12 अंक 1. 1989.

गीतांजली सरोवर. अक्तूबर 1992.

नई दुनिया. 17 फरवरी 1993.

परिषद् भारती. जुलाई 1993.

भाषा. जुलाई-अगस्त 1992.

लोकशासन. मई 1994, जून 1994. अगस्त 1994.

साप्ताहिक हिन्दुस्तान. 23 मई 1976. 30 मई 1983.

साक्षात्कार. दिसंबर 1986.

परिशिष्ट - एक

लघुपत्रिका के संबंध में संपादकों, रचनाकारों और आलोचकों से बातचीत

डॉ. धनंजयवर्मा- प्रसिद्ध आलोचक, "वसुधा" के भूतपूर्व संपादक

प्रश्न नये साहित्यिक मूल्यों की स्थापना में लघुपत्रिकाओं का क्या विशेष योगदान है ?

उत्तर जहाँ तक मेरी जानकारी है साहित्य के क्षेत्र में नयी रचनात्मकता हो या नयी मूल्यवत्ता, सबकी पहचान और पहल लघुपत्रिकाओं के माध्यम से ही संभव हुई है । साहित्य, विचार और रचना के क्षेत्र में अभिव्यक्ति के खतरे उठाने, जोखिम लेने का साहस और माद्दा सिर्फ लघुपत्रिकाओं में ही हो सकता है । इसकी उम्मीद हम किसी भी बड़े घराने या प्रतिष्ठान से निकलने-वाले अखबार या पत्रिका से नहीं कर सकते ।

प्रश्न सांस्कृतिक संरचना में लघुपत्रिका का क्या महत्व है ?

उत्तर किसी भी सांस्कृतिक संरचना में साहित्य की केन्द्रिय भूमिका होती है । इसकी वजह यह है कि साहित्य विचार और भावबोध का संवाहक होता है । अन्य कलाएँ मनुष्य की सौंदर्य संवेदना और चेतना को अभिव्यक्ति तो करती हैं लेकिन उसकी वैचारिक जागृति और बौद्धिक अवधारणाओं का संवाहक साहित्य ही होता है और इसीलिए सांस्कृतिक संरचना में साहित्य की भूमिका एक उत्प्रेरक की होती है और लघुपत्रिकाओं में अपने जमाने के सार्थक साहित्य का प्रकाशन संभव होता है । अतः सांस्कृतिक संरचना में भी लघुपत्रिकाओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है ।

प्रश्न लघुपत्रिका में संपादक का स्थान कितना निर्णायक होता है ?

उत्तर लघुपत्रिकाएँ संपादक के निजी प्रयत्नों की उपलब्धियाँ ही होती हैं । लेकिन उन्हें उनकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति का माध्यम नहीं होना चाहिए । लघुपत्रिकाओं की शर्त ही यह है कि उनके संपादक लेखक ही हों और ऐसे लेखक जो लेखन की किसी गैर साहित्यिक या साहित्येतर महत्वाकांक्षा की पूर्ति का माध्यम न मानें जिनकी एकान्त निष्ठा और दुर्दान्त प्रतिबद्धता सिर्फ लेखन के प्रति हो । उदाहरण के लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की "कविवचनसुधा", महावीर प्रसाद द्विवेदी की "सरस्वती", जयशंकर प्रसाद की "इन्दु", निराला की "मतवाला", प्रेमचंद की "हंस", हरिशंकर परसाई की पुरानी "वसुधा" । किसी साहित्यिक लघुपत्रिका में संपादक, पीर, बावर्ची, भिश्ती सबकुछ होता है । इसे वह अपना साहित्यिक मिशन मानता है, अपने साहित्यिक कर्म का ही अंग मानता है और उसके प्रति एक गहरे रचनात्मक संतोष से भरा होता है ।

शंभुनाथ - साहित्य में रुचिप्राप्त समकालीन आलोचक, "समकालीन-सृजन" के संपादक

प्रश्न आप सामान्य पत्रकारिता और लघुपत्रिका के बीच क्या मौलिक अंतर देखते हैं ?

उत्तर सामान्य पत्रकारिता का मतलब समाचार पत्रों से है । समाचार पत्र चाहे आकार में बड़े हो या छोटे, उनका काम सूचना देना है । इससे भिन्न लघुपत्रिकाएँ सूचना देने के अलावा मुख्यत: साहित्य के संप्रेषण का माध्यम हैं । दूसरी बात यह है कि लघुपत्रिकाएँ केवल व्याख्याएँ ही नहीं देती बल्कि "वैल्यू जड्जमेंट"

भी करती हैं । यही "वैल्यू जड्जमेंट" लघुपत्रिका को सामान्य पत्रकारिता से अलग करती है । सामान्य पत्रकारिता उद्देश्यपरक नहीं होती जबकि साहित्यिक लघुपत्रिकाओं का उद्देश्य अच्छे मूल्यों का प्रचार करना है । वे चुनौतियों के सामने खुद खडी होती हैं और अपने समाज को खडा होने की प्रेरणा देती हैं ।

प्रश्न पूर्ववर्ती लघुपत्रिकाओं से भिन्न समकालीन लघुपत्रिकाओं को क्या विशेष भूमिका निभानी है ?

उत्तर समकालीन लघुपत्रिकाओं की भूमिका, उनकी पूर्ववर्ती पत्रिकाओं की भूमिका से अधिक विस्तृत हो गयी है । समकालीन लघुपत्रिकाओं को केवल साहित्य केन्द्रित नहीं बनी रहनी है बल्कि उनको सामाजिक और सांस्कृतिक पत्रिकाओं की भूमिका भी निभानी है । उनको समाज में वैकल्पिक संस्कृति के निर्माण के लिए सडी-गली रूढिवादी संस्कृति से और औपनिवेशिक संस्कृति से मुकाबला करना है । समाज और संस्कृति को पंगु कर देनेवाली सभ्यता के यथार्थ का पटाक्षेप करना है ।

प्रश्न समकालीन लघुपत्रिकाओं के संघर्ष के आयाम क्या क्या हैं ?

उत्तर आज लघुपत्रिकाओं का संघर्ष अधिक जटिल हो गया है । आज समस्या विश्व बाज़ार की है और चुनौती बडे संचार माध्यमों की है । लघुपत्रिकाओं का संघर्ष मुख्यत: इन दोनों से है । बडे दृश्य-शब्द माध्यम समाज में कहीं असंस्कृति फैला रहे हैं । वे पढने की संस्कृति को उखाड दे रहे हैं । यह बात किसी से भी छिपी

नहीं है । इसलिए अब समकालीन लघुपत्रिकाओं का पहला और अंतिम दायित्व है इन दोनों से संघर्ष करने का ।

प्रश्न कहा जाता है लघुपत्रिका स्वयं एक विद्रोह है । उसके विद्रोह की भावना किस ढंग से अभिव्यक्ति पाती है ?

उत्तर समाज में जितनी लघुपत्रिकाएँ आयी हैं वे सभी कहीं न कहीं असहमत होकर प्रतिवाद में और विद्रोह में आयी हैं । समकालीन लघुपत्रिकाओं में विभिन्न स्तरों पर विद्रोह की भावना की अभिव्यक्ति होती है । पहला तो, लघुपत्रिकाओं के संपादक अपनी पत्रिकाओं में नये रचनाकारों को स्थान देते हैं जिन्हें व्यावसायिक पत्रिकाओं में कोई स्थान नहीं मिलता । दूसरा, लघुपत्रिकाएँ खुलकर विचारधारा का प्रचार करती हैं जबकि व्यावसायिक पत्रिकाओं और अन्य बडे सूचना माध्यमों में विचार-धारा को किनारे में रखा जाता है । यह प्रयास एक तरह का विद्रोह ही है । तीसरा, लघुपत्रिकाएँ रचना के स्तर से लेकर प्रकाशन के स्तर तक नये नये प्रयोग करती हैं और नये नये साहित्येतर विषयों पर अंक निकालती हुई सामाजिक और सांस्कृतिक चुनौतियों का सामना करती हैं । इन सबके माध्यम से लघुपत्रिका के विद्रोह की अभिव्यक्ति होती है ।

डॉ. के. सच्चिदानन्दन - सुप्रसिद्ध समकालीन मलयाली कवि - आलोचक - विचारक - "इंडियन लिटरेचर" के संपादक

प्रश्न अंततः आप जिसको लघुपत्रिका मानते हैं ?

उत्तर लघुपत्रिकाएँ ऐसी पत्रिकाएँ हैं जिन्होंने एक नये विचार को सामने रखने, संवेदना में प्रतिष्ठानी पत्रिकाओं से मौलिक अंतर का पालन करने, कला-साहित्य में प्रयोगशीलता को प्रमुखता देने, व्यावसायिक उद्देश्यों से मुक्त होकर गुणवत्ता को स्थिर रखने और मुख्यतः बुद्धिजीवियों का संबोधन करने के दायित्व को संभाला है ।

प्रश्न दरअसल एक लघुपत्रिका की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर जब विचार, कला और साहित्य परंपरावाद में परिणत हो जाते हैं तब ऐसी छोटे संगठन के आयोजन की आवश्यकता होती है जिसमें नये चिंतन और संवेदना निहित हो । लघुपत्रिका यही कार्य करती है ।

प्रश्न क्या लघुपत्रिका परंपरा का उल्लंघन करती है ? यदि है तो यह उल्लंघन किन-किन अंशों में होता है ?

उत्तर लघुपत्रिका परंपरा के कुछ अंशों पर अवश्य प्रश्न उठाती है जो उसकी स्तरीयता, प्रकृति और आविर्भावकाल पर निर्भर है । सामान्य रूप से कह सकते हैं कि वह प्रत्येक काल में जीर्ण होते और प्रगति-यात्रा पर रोक लगानेवाले अंशों पर प्रश्न उठाती है ।

प्रश्न लघुपत्रिका पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि वह प्राय: किसी गुट या खेमे में आबद्ध रहती है । इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?

उत्तर सही लघुपत्रिकाओं के पीछे सदा प्रजातंत्र पर आस्था रखनेवाली एक "ग्रुप" रहेगी । किन्हीं की दृष्टि में वह गुट या खेमा हो । वास्तव में लघुपत्रिकाएँ जनप्रिय प्रकाशन नहीं होतीं । लेकिन उनके विचार जनवादी हो सकते हैं । उनकी बातचीत बुद्धिजीवियों से होती है और वे उस नेतृत्व का संबोधन करती है जिनमें उन जनवादी विचारों का प्रचार करने की दक्षता है ।

प्रो. के. जी. शंकर पिल्लै - मशहूर समकालीन मलयाली कवि और संस्कृति कर्मी, "समकालीन कविता" के संपादक

प्रश्न आखिर साहित्य में लघुपत्रिका की परिकल्पना किस परिवेश में हुई है ।

उत्तर जब इतिहास में साहित्य, राजनीति और सांस्कृतिक कार्य सत्ताधारी प्रतिष्ठानों के रूप में परिणत होते हैं, जब एक लाभदायक व्यवस्था के रूप में परिवर्तित होते हैं तब सांस्कृतिक स्तर पर एक जड़ता आ जाती है । इस सांस्कृतिक जड़ता से जनता को मुक्त करके अधिक गतिशील बनाने के लिए लघुपत्रिका की परिकल्पना हुई है ।

प्रश्न लघुपत्रिका को किस हद तक एक पश्चिमी अवधारणा की अनुकृति कही जा सकती है ?

उत्तर लघुपत्रिका कोई अनुकृति नहीं है । आधुनिक विज्ञान के आरंभ के पश्चात् हमारे लिए सांस्कृतिक और ज्ञानात्मक कार्यों में विभाजन नामुमकिन हो गया है । यह लघुपत्रिका की अवधारणा के संदर्भ में भी सही है । संस्कृति के विकास के एक विशेष कालखंड में चाहे योरोप में हो या भारत में, मनुष्य की प्रतिक्रिया में समानता है । लघुपत्रिका इसका भी प्रमाण है ।

प्रश्न लघुपत्रिका का रचनात्मक पक्ष क्या है ?

उत्तर लघुपत्रिका संस्कृति की एक विशेष पहचान को प्रेषित करती है । लघुपत्रिका और पाठक वर्ग के बीच ऐसा संवाद चलता है जैसे कि दो मित्रों के बीच का आत्मीयतापूर्ण संवाद । उसने एक नयी संप्रेषण-संस्कृति की रचना की है । यह दृश्य इतना स्पष्ट है कि संसार के किसी भी देश में आधुनिक कविता, कहानी, नाटक, चित्रकला, सिनेमा आदि इसी के माध्यम से स्वीकृत हुए हैं । उसने संवेदना के स्तर पर एक युगारंभ कार्य किया है । इतिहास गवाह है बडी संस्थाओं और प्रतिष्ठानों से बढकर संस्कृति के इतिहास में अनेक गुणात्मक परिवर्तन लघुपत्रिका लायी है । उसने जनता में आत्मज्ञान का उत्पादन किया जो बडे-बडे आयोजनों के लिए असंभव कार्य रहा है । लघुपत्रिका के रचनात्मक पक्ष का आकलन तब पूर्ण होता है जब हम इन्हें एकसाथ रखकर देखते हैं ।

प्रश्न क्या आप को कभी ऐसा लगा है कि लघुपत्रिका की अस्मिता को झकझोर करने के लिए बडी पत्रिकाओं द्वारा उसका अनुकरण हुआ है ?

उत्तर बडी व्यावसायिक पत्रिकाओं ने बाह्य स्तर पर लघु-पत्रिकाओं की प्रयोगशीलता का अनुकरण कई बार किया है । पर उसकी मूल्यचेतना व्यावसायिक है, सांस्कृतिक कभी नहीं । बडी पत्रिकाओं ने लघुपत्रिका के रूप, "ले-आउट", जैसे बाहरी तत्वों के अनुकरण में तृप्ति महसूस की है । किन्तु उनकी तरफ से लघुपत्रिका की अन्तर्वस्तु और आत्मा को आत्मसात् करने का कोई प्रयास नहीं हुआ है ।

डॉ. धर्मेन्द्र गुप्त - हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार, "विषयवस्तु" के संपादक

प्रश्न लघुपत्रिका की अवधारणा विषयक आपकी दृष्टि क्या है ?

उत्तर लघुपत्रिका एक व्यक्ति की या कुछ व्यक्तियों की आवाज़ है जो अपने समय में अपनी चेतना या सजगता को व्यक्त करती है । पूँजीवादी समाज में व्यक्ति भीड का हिस्सा बन जाता है । लघुपत्रिकाओं के माध्यम से वह अपने अस्तित्व को बौद्धिक रूप से बचाता है । एक व्यक्ति जो बेचैनी का अनुभव करता है - अपने को व्यक्त करने की और कुछ करने की - लघुपत्रिका उस बेचैनी को जमीन देती है ।

प्रश्न लघुपत्रिका की संभावना और सीमा के संबंध में आपका विचार क्या है ?

उत्तर लघुपत्रिका की संभावनाएँ अपरिमित हैं । जब तक व्यक्ति के हक की लडाई चलेगी तब तक लघुपत्रिका की बराबर संभावनाएँ रहेंगी । सही लघुपत्रिका मानवमूल्यों के लिए समर्पित होती है । यह समर्पण उसे जीवित रखता है । यही उसका वर्तमान है यही उसका भविष्य है ।

जब लघुपत्रिका के माध्यम से व्यक्ति धर्म का समूह के मानवीय पक्ष को छोडकर अपने व्यक्तिगत लाभ-हानि की विवेचना करने लगता है तब उसकी सीमाएँ उभर आती हैं । जहाँ लघुपत्रिका मात्र व्यक्ति के निजी स्वार्थों की पूर्ति का प्रयास होती है वहाँ वह एक महत्वाकांक्षी साधन बन जाती है । अति सीमित साधन के कारण या साधनों के अभाव के कारण लघुपत्रिका बडी संख्या में आम जनता के पास नहीं पहुँच जाती है । लेकिन जहाँ पहुँचती है वहाँ अपनी स्पष्ट की दृष्टि के कारण आम जनता में प्रशंसित होती है ।

प्रश्न लघुपत्रिका की सामाजिक भूमिका के निर्वहण का स्तर क्या है ?

उत्तर लघुपत्रिका की सामाजिक भूमिका के निर्वहण के कई स्तर हैं । उनके ज़रिए वह हमेशा "लघुपत्रिका" की ही भूमिका निभाती है । लघुपत्रिकाओं में जो रचनाएँ छपी जाती हैं उनको ध्वनि

ही सामाजिक सरोकार को व्यक्त करती है । कुंठा, संत्रास, अकेलापन, मृत्युभय, सस्ता रोमांस या शरीर-प्रदर्शन इनसे जुडी हुई रचनाएँ सामाजिक सरोकार से वास्ता नहीं रखतीं । ये व्यक्ति की अपनी मनोग्रंथियाँ होती हैं । इनसे हटकर समाज से जुडी हुई रचनाएँ हैं जो बहुआयामी मनुष्यता को अर्थ देती हैं और रचनात्मक लेखन को सामाजिक सरोकार से जोड देती हैं । ऐसी रचनाएँ छपकर लघुपत्रिकाएँ अपने को एक साफ प्रतिबद्धदृष्टि प्रदान करती हैं और अपने चेहरे को उभार देती हैं ।

राजेश जोशी - सातवें दशक के नामी कवि, "इसलिए" के संपादक

प्रश्न एक आदर्श लघुपत्रिका के संबंध में आपकी "कॅन्सेप्ट" क्या हैं ? समकालीन लघुपत्रिकाएँ उससे कहाँ तक मेल खाती हैं ?

उत्तर "मेरी कन्सेप्ट" तो यह है कि लघुपत्रिका को अपने कालखंड की "बेस्ट पोसिबिल" रचना का प्रतिनिधित्व करना चाहिए । समकालीन "ट्रेंड" को समकाल में ही बता देना चाहिए । अपने समय के साहित्यिक मूल्यों और साहित्यिक प्रश्नों की चर्चा होनी चाहिए । उसको एकसाथ समय और समाज का संबंध रखना है । इस दृष्टि से मेरे लिए "पहल" एक आदर्श लघुपत्रिका है । इसपर मैं काफी खुश हूँ कि फिलहाल हिन्दी में कई लघुपत्रिकाएँ ऐसी नज़र आती हैं जो इन आदर्श को आगे ले चलाने की कोशिश में रत हैं ।

प्रश्न आपकी राय में लघुपत्रिका में व्यक्तिगत भूमिका का क्या महत्व है ?

उत्तर मैं मानता हूँ लघुपत्रिकाओं में व्यक्तिगत भूमिका का अधिक महत्व है । लेखकसंघ, संस्था आदि द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं को छोडकर अधिकतम लघुपत्रिकाएँ व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित होती हैं । उनमें व्यक्ति सबकुछ है । उनकी पूरी भूमिका व्यक्ति की अपनी भूमिका है । संघठन हो जाने पर समझौता अनिवार्य हो जाता है । कुछ लघुपत्रिकाओं के लिए एकाधिक संपादक होंगे । प्रत्येक की अपनी अपनी रुचि होगी । इन रुचियों का पालन पत्रिका में नहीं हो सकता । इसलिए ऐसी लघुपत्रिकाओं में सदा अन्तर्विरोध बना रहता है । मैं ने व्यक्तिगत प्रयास से "इसलिए" निकाला । इसमें रमेशचन्द्र शाह, शिवपुरीलाल वर्मा, ध्रुवशुक्ल जैसे मेरे विचारों के विरुद्ध लिखनेवाले लेखकों की रचनाएँ भी छपकर आती थीं । इस विषय पर मेरी दृढ आस्था है व्यक्तिगत रूप में प्रकाशित होनेवाली लघुपत्रिका ही बेहतर है ।

प्रश्न समकालीन लघुपत्रिकाओं की केन्द्रिय विचारधारा के बारे में आपका निरीक्षण क्या है ?

उत्तर आज की लघुपत्रिकाओं की केन्द्रीय विचारधारा प्रगतिशील या वामपंथीय है । ज़्यादातर प्रमुख समकालीन पत्रिकाएँ इस विचारधारा से आती हैं और वे ऐसे लेखन को ज़्यादातर प्रोत्साहन देने का संकल्प के पक्षधर हैं । समाज में दो तरह के लोग होते हैं एक शासक दूसरा शासित । एक शोषक दूसरा शोषित । समकालीन प्रगतिशील, वामपंथीय लघुपत्रिकाएँ शोषित और शोषितों का साथ देती आ रही हैं ।